



महावीर जयन्ती 2585

जैनविद्या

वीर विशेषांक

सामिचरिणसिं गारवीरे महाकवे महाकइ देवयत्त सुगवीर विरूप हार ह अ
 युपेदा उतावणाए विजुचरस्स सुवह सिद्धिगमणे नामपयार समो संधीपरिच्छे
 उमम्मत्तो॥संधि॥१॥ वरिसाणसंयं चउके सतरिजुत्ते जिये दवीरस्साणिवाणा
 उवत्तंसा विक्रमकालस्स उपत्ती॥१॥ विक्रमणिवकाला उठाह तर दससप सुव
 रिसाणां माहस्मि सुह परकेद समीदिव समिसं तंमि॥२॥ सुणियं आय रिय परं॥
 पराए वीरेण वीरणिदिहो बडुल ठेप सत्तुपयं पवर मियं चरिय मुद्धरियो॥३॥
 ठेवदिणे मेहवणपहणे वदमाण जिय पडिमतेणा विमहाकइणा वीरेण पयहि
 यापवरा॥४॥ भव कराय कज्जधम्मत्त कामगोही विहत्त समयस्सो वीरस्स चरियकर
 ए॥५॥ कोसेव सरालेत्ता॥६॥ जस्स कयह वयत्तो॥ जणणे सत्तरिय लह माहणा सुह

मील सुहवं सो जणणी सिरि संवु आत्तणिया॥६॥ जस्स यप ससवयणा लडुणे सुमइ
 ससहायराति सिंसीह लखण का जसइणा मेत्ति विखाया॥७॥ जाया जस्स मणिवा
 जिये चंद्रो मा वइ सुणाचीया लीला वइ तितर्इया पत्थिम तज्जा जया देवी॥८॥ एदम क
 लत्तं गरुहो संत्ताण कयत्ते विडविपोरो हो विणय युण मखिणहाणो तण उतदण मि
 चेदोति॥९॥ एसा जय उकयतीरो वीर जिये दस्स कारिये जेणा पाहाण मयं नवणे पिय सुह
 मेण मेहवण॥१०॥ अह जय उ जसणिवो सो जसणा उयं डि उत्ति विरका उ वीर जिया
 लय सरिसो चरिय मिये कारिये जेणा॥११॥ इति जे बूसा मिचरि त्तं समात्ता ॥ श्री॥ मन्येव
 यं सुण सुरीव तातिो साग्गुणे तिप कटी वत्तवो प्रोत्तं गतं उड न चेत्य गेहाः सोया नवद
 श्यति ना कलोको॥१२॥ उरस्स रा राम जल वरु पाह म्या णित त्रा सिरती वर माः गद श्यं ति लो
 का र्धने सुण ना जा ददा तिदानस्य विशाल शाला॥१३॥ श्री विक्रमार्क न गते नूतो द्दुषडक
 पचेक सुमार्थ शार्ध त्रयोदशीया तिथि सर्व सुखा॥ श्री जंबुसामै त्च सुस्त काय॥१४॥

जैनविद्या संस्थान

(INSTITUTE OF JAINOLOGY)

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

मुखपृष्ठ चित्र परिचय

प्रस्तुत अंक के मुखपृष्ठ पर मुद्रित चित्र संस्थानान्तर्गत पाण्डुलिपि विभाग के जम्बू-सामिचरिउ की पाण्डुलिपि वेष्टन सं. 306, लिपि संवत् 1516, लिपिस्थान भुण्भुणु, पत्र सं. 76 के अंतिम दो पृष्ठों के हैं जिनका मूलपाठ यहां उद्धृत किया जा रहा है। इस प्रति का उपयोग डॉ. विमलप्रकाश जैन ने अपने शोध प्रबन्ध में 'ख' प्रति के रूप में किया है। इसका आकार 11" + 5 $\frac{3}{4}$ " है तथा 62 वां पत्र इसमें नहीं है।

“..... सामिचरिए सिगारवीरे महाकव्वे महाकइ देवयत्त सुय वीर विरइए बारह
अणुपेहाउ भावणाए विज्जुच्चरस्स सव्वट्टिसिद्धि गमणं नाम एयारसमो संधी परिच्छेउ सम्मत्तो
॥ संधिः ॥ 11 ॥

वरिसाण सयचउक्के	सत्तरि जुत्ते जिग्गेद वीरस्स ।
णिव्वाणा उववण्णे	विक्कमकालस्स उपपत्ती ॥ 1 ॥
विक्कममणिव कालाओ	छाहत्तरदससएसु वरिसाणं ।
माहम्मि सुद्धपक्खे	दसम्मी दिवसम्मिसत्तम्मि ॥ 2 ॥
सुणियं आयरियपरंपराए	वीरेण वीरएदिट्ठं ।
बहुलत्थ पमत्थपयं	पवरमिणं चरियमुद्धरियं ॥ 3 ॥
इत्थेव दिणे मेहवणपट्टणे	वद्धमाणजिणपडिमा ।
तेणावि महाकइणा	वीरेण पयट्टिया पवरा ॥ 4 ॥
बहुरायकज्जधम्मत्थ—	कामगोटीविहत्तसमयस्स ।
वीरस्स चरियकरणे	एक्को संवत्सरो लग्गो ॥ 5 ॥
जस्स कय देवयत्तो	जणणो सच्चरियलद्धमाहणो ।
सुहसीलसुद्धवंसो	जणणी मिरि संतुआ भाणिया ॥ 6 ॥
जस्स य सण्णवयणा	लहणो सुभइ ससहोयरा तिण्णि ।
सहिल्ल लखणंका	जसइणामेत्ति विखाया ॥ 7 ॥
जाया जस्स मणिट्टा	जिणवइ पोमावइ पुणो वीया ।
लीलावइ तितईय	पद्धिम भज्जा जयादेवी ॥ 8 ॥
पढमकलत्तं गरुहो	संताणकयत्तविडविपारोहो ।
विणययुणमणिणीहाणो	तणउ तह णेमिचंदो त्ति ॥ 9 ॥
सो जयउ कय वीरो	वीरजिग्गंदस्स कारियं जेण ।
पाहाणमयं भवणं	पियरुद्देसेण मेहवणे ॥ 10 ॥
अह जयउ जसाणिवासो	जम णाउ पंडिउ त्ति विक्खाउ ।
वीरजिणालयसरिसं	चरियमिणं कारियं जेण ॥ 11 ॥

इति जंबूमामिचरित्तं समाप्तं ॥ श्री ॥ मन्ये वयं

पुण्यपुरीव भाति । सा भूभुणेति प्रकटी बभूव ।
प्रोत्तुंग तन्मंडन चैत्यगेहाः सोपानवदृश्यति नाकलोके ॥ 1 ॥
पुरस्सहरारामजलव्रकूपा हर्म्याणि तत्रास्ति रत्तीव रम्याः ।
दृश्यति लोकार्धनपुण्यभाजा ददाति दानस्य विशालशाला ॥ 2 ॥
श्री विक्रमाकर्कनगते शताब्दे षडेकपंचैक मुमार्गशीर्षे ।
त्रयोदशियातिथि सर्व्वसुद्धा श्री जंबुमामीत्ति च पुस्तकोयं ॥ 3 ॥

जैनविद्या

जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी द्वारा प्रकाशित अर्द्ध-वार्षिक

शोध-पत्रिका

अप्रैल-1987

सम्पादक

डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन

सहायक सम्पादक

पं. भंवरलाल पोल्याका

सुश्री प्रीति जैन

प्रबन्ध सम्पादक

श्री नरेशकुमार सेठी

मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी

सम्पादक मण्डल

श्री ज्ञानचन्द्र सिन्दूका

श्री नरेशकुमार सेठी

श्री नवीनकुमार बज

डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

डॉ. दरबारीलाल कोठिया

श्री प्रेमचन्द्र जैन

डॉ. कमलचन्द्र सोगानी

प्रो. प्रवीणचन्द्र जैन

प्रकाशक

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

मुद्रक

वरनल प्रेस

जयपुर-302 001

वार्षिक मूल्य

देश में : तीस रुपये मात्र

विदेशों में : पन्द्रह डॉलर

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान द्वारा जैन-साहित्य सर्जकों को उल्लेखनीय सृजन योगदान के लिए प्रतिवर्ष 5001/- पांच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रदान किया जाता है। संस्थान द्वारा निम्नांकित विद्वानों को यह पुरस्कार प्रदान किया जा चुका है—

- | | | |
|--------------|---------------------------|---|
| 1. वर्ष 1983 | डॉ. पन्नालाल जैन
सागर | सम्यक्चिन्तामणि
वीर सेवा मन्दिर, वाराणसी |
| 2. वर्ष 1984 | निरस्त | |
| 3. वर्ष 1985 | डॉ. कपूरचन्द जैन
सतौली | पुरुदेवचंपू का आलोचनात्मक
परिशीलन
परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली |

वर्ष 1986 के पुरस्कार हेतु विद्वानों से रचनाएँ आमन्त्रित हैं।

संयोजक
जैनविद्या संस्थान

विषय सूची

क्र. सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
	प्रास्ताविक		
	प्रकाशकीय		
	प्रारम्भिक		
1.	जंबूसामिचरिउ के यशस्वी महाकवि वीर का व्यक्तित्व	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया	9
2.	अधुबानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	14
3.	महाकवि वीर और उनका जंबूसामिचरिउ एक समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. जयकिशनप्रसाद खंडेलवाल	15
4.	अशरणानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	22
5.	महाकवि वीर का समीक्षा सिद्धांत	डॉ. छोटेलाल शर्मा	23
6.	जंबूसामिचरिउ का साहित्यिक मूल्यांकन	डॉ. प्रादित्य प्रचंडिया 'दीप्ति'	33
7.	जंबूसामिचरिउ छवि भली संबारी वीर कवि	श्री नेमीचंद पटोरिया	41
8.	संसारानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	50
9.	जंबूसामिचरिउ में रसयोजना	डॉ. गंगाराम गर्ग	51
10.	जंबूसामिचरिउ में छन्दयोजना	श्रीमती धलका प्रचंडिया 'दीप्ति'	59
11.	महाकवि वीर की दार्शनिक दृष्टि	डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर'	65

12. एकत्वानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	72
13. जंबूसामिचरिउ की कथानकसृष्टि और हिन्दी काव्य-परम्परा	डॉ. [श्रीमती] पुष्पलता जैन	73
14. अन्यत्वानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	84
15. जंबूसामिचरिउ के नारी-पात्र	श्री शीयांशकुमार सिधई	85
16. अशुचि अनुप्रेक्षा	महाकवि वीर	96
17. जंबूसामिचरिउ के वैराग्य-प्रसंग	सुधी प्रीति जैन	97
18. आस्रवानुप्रेक्षा	महाकवि वीर	104
19. जंबूसामिचरिउ के मंगल-प्रसंग एक व्याकरणिक विश्लेषण	डॉ. कमलचन्द सोगार्ली	105
20. जंबूस्वामीचरित विषयक जैनसाहित्य	डॉ. कपूरचन्द जैन डॉ. [श्रीमती] ज्योति जैन	117
21. बुद्धिरसायण ओणमचरितु दोहड़ा	कवि नेमिप्रसाद अनु.-पं. भंवरलाल पोल्याका	129
22. इस ग्रंथ के सहयोगी रचनाकार		147



प्रास्ताविक

अपभ्रंश भाषा मध्यकालीन युग में एक अत्यन्त सक्षम भाषा रही है। उस युग में यह जनभाषा ही नहीं बल्कि एक साहित्यिक भाषा भी थी। इसके माध्यम से जीवन सम्बन्धी अनेक विषयों पर काव्यों की रचना की गयी। भाषा के साहित्यिकरूप ग्रहण करने एवं जनभाषा बनने में वर्षों लग जाते हैं। इस दृष्टि से अपभ्रंश भाषा का आदिकाल काफी प्राचीन है। अपभ्रंश भाषा को उत्तर भारत की करीब-करीब सभी आधुनिक भाषाओं यथा हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, मराठी, बिहारी, बंगाली, उड़िया, आसामी आदि की जननी कहा जाता है। सौभाग्य का विषय है कि अब कुछ वर्षों से विद्वानों का ध्यान अपभ्रंश भाषा में उपलब्ध ग्रन्थों, विशेषकर अप्रकाशित रचनाओं की ओर गया है और उनके प्रयत्नों से अपभ्रंश साहित्य का महान् खजाना प्रकाश में आ रहा है। इनमें से ही एक महाकाव्य 'जंबूसामिचरित' है।

जंबूस्वामी भगवान् महावीर के गणधर सुधर्माचार्य द्वारा जैनसंघ में दीक्षित किये गए थे। वे इस काल के अन्तिम केवली थे एवं उन्होंने भगवान् महावीर के निर्वाण के 64 वर्ष पश्चात् अर्थात् 463 ई. पूर्व निर्वाण प्राप्त किया था। स्वयं सुधर्मास्वामी ने जंबूस्वामी को भ्रमों का उपदेश दिया था। प्रश्नों के माध्यम से जंबूस्वामी ने सुधर्माचार्य से सारे आगमों को भली प्रकार सुना था, समझा था एवं धारण किया था। तत्पश्चात् जंबूस्वामी से उनके शिष्यों को और शिष्यों से उनके शिष्यों को यह ज्ञान धारावाहिक प्राप्त होता रहा। इस तरह यह परम्परा सैंकड़ों वर्षों तक चलती रही एवं आगम-ज्ञान की धारा अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार आगम-ज्ञान की धारा में जंबूस्वामी का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अद्वितीय एवं स्मरणीय है। वे अमण-परम्परा में अलौकिक प्रतिभा के धारी एवं कठोर तपसाधक थे। उन्होंने बिना भोगे ही गार्हस्थ्य जीवन को त्याग दिया था। जंबूस्वामी एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे फिर भी यह दुर्भाग्य की बात है कि उनके जीवन के विषय में समकालीन स्रोतों से बहुत कम जानकारी मिलती है। जो कुछ भी जानकारी प्राप्त होती है वह अधिकांशतः जैन साहित्य एवं कुछ अन्य साहित्य से प्राप्त होती है। बाद में तो अपनी विशेषताओं के कारण जंबूस्वामी की जीवनी भिन्न-भिन्न स्रोतों से प्राप्त अनेक उपाख्यानों से जुड़ गयीं। जैन साहित्य में तो जंबूस्वामी से

सम्बन्धित कथा इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई है कि पांचवी-छठी शताब्दी में हुए संघदास गणि से लगाकर वर्तमान बीसवीं शती तक के विभिन्न लेखकों द्वारा विभिन्न भारतीय भाषाओं तथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, तमिल, तेलगू, मलयालम, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी आदि में भिन्न-भिन्न प्रदेशों में व अवधियों में इनकी 100 से भी अधिक कृतियाँ रची गयीं। इन रचनाओं की विभिन्न कालों में लिखी गयी सैकड़ों हस्तलिखित प्रतियाँ जैन एवं जैनेतर ग्रंथ-भण्डारों में उपलब्ध होती हैं। इन्हीं रचनाओं में कहाकवि वीर द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित 'जम्बूसामिचरित' है। महाकवि वीर अपभ्रंश भाषा के महान् कवियों में से एक हैं। इनके द्वारा रचित यह महाकाव्य जम्बूस्वामी की जीवनी का एक सर्वांग सुन्दर ग्रन्थयन प्रस्तुत करता है। काव्य की शैली अति सुन्दर एवं रुचिकर है। महाकवि वीर की यह रचना अन्य अपभ्रंश रचनाओं की तरह कई वर्षों तक अप्रकाशित रही। केवल हस्तलिखित प्रतियों में ही सीमितरूप से लिखी जाती रही। हिन्दी भाषा में इसका सर्वप्रथम परिचय पं परमानन्द जी द्वारा 'अनेकान्त' में प्रकाशित कराया गया है। डॉ. विमलप्रकाश जैन ने इस अतिरोचक अपभ्रंश रचना पर शोध कार्य कर पीएच. डी. डिग्री प्राप्त की एवं हिन्दी अनुवाद कर समाज को इससे परिचित करवाया। डॉ. जैन ने अपना शोध-कार्य 'जंबूसामिचरित' की जिन पांच हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया उनमें सबसे अधिक प्राचीन प्रति वि.सं. 1516 में लिखित श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी के अन्तर्गत आमेर शास्त्र भण्डार, वर्तमान में जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी के पांडुलिपि भण्डार की है। इसके अतिरिक्त तीन अन्य प्रतियाँ भी जयपुर के भण्डारों में सुरक्षित हैं।

हमारे इस विशेषांक के चरित्र-नायक महाकवि वीर का जन्म मालवदेश के गुलखेड़ नामक ग्राम में जैनधर्मानुयायी लाडवर्ग गोत्र में हुआ था। इनके पिता देवदत्त स्वयं महाकवि थे। वीर के अनुसार तो उनके पिता का स्थान महाकवि स्वयंभू एवं पुष्पदंत के तत्काल बाद ही था। इन्होंने भी चार कृतियों—1. पद्मड़िया छंद में वरांगचरित 2. चच्चरियाशैली में शांतिनाथ का यशोगान (शांतिनाथरास) 3. सुन्दर काव्यशैली में सुद्धयवीरकथा एवं 4. अंबादेवीरास की रचना की थी। दुर्भाग्य से वर्तमान में इन चारों में से एक भी रचना उपलब्ध नहीं है। कवि की मां का नाम श्री संतुआ था एवं उनके चार पत्नियाँ थीं। प्रारम्भ में वीर संस्कृत काव्यरचना में निपुण थे परन्तु बाद में उनके पिता के मित्र तक्खड़ नाम के एक श्रेष्ठी एवं उसके अनुज भरत ने वीर को इस बात के लिए उत्साहित व प्रेरित किया कि वह अनेक प्राचीन कवियों द्वारा ग्रंथों में उल्लिखित जम्बूस्वामीचरित पर सर्वजनप्रिय अपभ्रंश भाषा में एक काव्य लिखें। तक्खड़ स्वयं विद्वान् थे एवं विद्वानों का आदर करते थे।

'जंबूसामिचरित' की प्रशस्ति के अनुसार इस कृति की रचना में करीब एक वर्ष का समय लगा एवं वि. सं. 1076 में रचना पूर्ण हुई। अन्य साक्ष्यों के आधार पर महाकवि वीर की इस रचना पर प्रसिद्ध महाकवि पुष्पदंत की रचनाओं का गम्भीर एवं व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इस रचना का भी गम्भीर व व्यापक प्रभाव अपभ्रंश के परवर्ती कवियों की कृतियों पर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वीर कवि विद्वान् होने के साथ-साथ एक योद्धा भी थे एवं उन्होंने अपने देश के लिए युद्ध में भी भाग लिया था।

इस रचना में संस्कृत व प्राकृत के कई श्लोक व गाथाएं उपलब्ध हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि कवि संस्कृत एवं प्राकृत भाषा में भी काव्य-रचना करने में सक्षम था ।

‘जैनविद्या’ का यह पंचम अंक ‘वीर विशेषांक’ पाठकों एवं अध्ययनकर्ताओं को समर्पित है । अपभ्रंश भाषा के विभिन्न विद्वानों ने कवि के व्यक्तित्व, कर्तृत्व व काव्य-प्रतिभा पर तो प्रकाश डाला ही है साथ में उसकी महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश रचना ‘जम्बूसामिचरिउ’ के साहित्यिक एवं काव्यात्मक महत्त्व से भी परिचय कराया है । संस्थान-समिति एवं सम्पादक मण्डल इन सभी विद्वानों का हार्दिक आभारी है । हम अपने ही सहयोगी डॉ. कमलचन्द सोगानी, प्रोफेसर दर्शन-शास्त्र विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के भी हार्दिक आभारी हैं जिन्होंने पूर्व की भांति इस अंक में भी हार्दिक सहयोग दिया है ।

डॉ. गोपीचन्द पाटनी

सम्पादक

प्रकाशकीय

यह 'जैनविद्या' पत्रिका का पंचम विशेषांक है। इससे पूर्व चार विशेषांक पाठकों तक पहुंच चुके हैं—1. महाकवि स्वयंभू विशेषांक, 2. महाकवि पुष्पदन्त विशेषांक, खण्ड एक 3. महाकवि पुष्पदन्त विशेषांक, खण्ड दो तथा 4. महाकवि धनपाल विशेषांक। साहित्य जगत् में इन विशेषांकों का जो स्वागत-सत्कार हुआ उससे प्रेरित और उत्साहित होकर यह पंचम अंक भी महाकवि वीर पर विशेषांक के रूप में ही प्रकाशित करने का निश्चय किया गया। फलस्वरूप अपभ्रंश भाषा के महाकवियों पर संस्थान द्वारा प्रकाशित विशेषांकों की शृंखला में यह एक और कड़ी जुड़ रही है।

जैन चाहे वे साधु हों, सन्त हों, भट्टारक हों, गृहत्यागी अथवा गृहस्थ हों केवल चिन्तन-मनन के क्षेत्र में ही समन्वयवादी या वर्ण, जाति, वर्ग आदि के भेदभाव से दूर नहीं रहे हैं अपितु कर्मक्षेत्र में भी उन्होंने अपनी इस विशेषता को बनाये रखा है। साहित्यिक क्षेत्र में भी अपने इस सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को उन्होंने कम नहीं होने दिया। किसी भाषा विशेष या साहित्यिक विधा से उन्होंने अपने आपको बांधे नहीं रखा। आर्य भाषा संस्कृत एवं अनार्य भाषा तमिल, तेलुगू, आदि शिष्ट भाषा एवं लोकभाषा गुजराती, राजस्थानी, बंगाली आदि में उनकी लेखनी समान रूप से चली। अपने आराध्य तीर्थकरों द्वारा प्रचलित लोकभाषा में उपदेश देने एवं साहित्य निर्माण करने की परिपाटी को उन्होंने आगे बढ़ाया। जब भी और जहां भी जिस भाषा का बर्चस्व उन्होंने पाया उसी भाषा को उन्होंने अपने साहित्य निर्माण का माध्यम बनाया। इसीलिए आदिकाल से लेकर आज तक प्रचलित लोकभाषाओं के परिवर्तन-परिवर्द्धन की जो शृंखलाबद्ध जानकारी जैनशास्त्र भण्डारों में उपलब्ध है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इस उपलब्धि का सबसे बड़ा कारण है अपनी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा के प्रति जैनों की जागरूकता। प्राचीन जैन अथवा जैनेतर साहित्य की जब भी कोई जीर्ण-शीर्ण प्रति उनके हाथ लगती, वे उसका जीर्णोद्धार करवाते, उनकी नई प्रतिलिपियां स्वयं करते अथवा अन्यो से करवाते और उन्हें शास्त्रभण्डारों में विराजमान करवा देते। भट्टारक काल में तो यह प्रवृत्ति इतनी अधिक थी कि एक-एक भट्टारक के नीचे कई-कई प्रतिलिपि लेखक, जो पाण्डे अथवा पण्डित कहलाते थे और जो धार्मिक अनुष्ठान प्रतिष्ठा, विधिविधान आदि के सम्पन्न कराने का कार्य भी करते थे, ग्रंथ प्रतिलिपिलेखन के कार्य पर नियुक्त थे। अकेले जयपुर में ही ऐसे पण्डितों की संख्या एक समय इक्यावन तक पहुंच गई थी।

अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने स्थान-स्थान पर शास्त्रभण्डारों की स्थापना की। जैसलमेर, नागौर, दिल्ली, मालपुरा, मौजमाबाद आदि स्थानों के शास्त्रभण्डार उनकी इस ही प्रवृत्ति का परिणाम हैं। जयपुर के जैन मन्दिरों में भी इस प्रकार के शास्त्रभण्डार हैं जिनमें हजारों जैन तथा जैनेतर ग्रंथ प्राप्य हैं।

यद्यपि जैनों का मुख्य लक्ष्य निर्वेद अथवा निर्वाण प्राप्ति रहा है। किन्तु साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में भी उन्होंने अपने अनाग्रही स्वभाव का परिचय दिया है। शृंगार, कला, ज्योतिष, चिकित्सा, निमित्त ज्ञान, गद्य, पद्य आदि विभिन्न साहित्य-विधाओं में उन्होंने साहित्य निर्माण किया एवं अपने भण्डारों में उनको बिना किसी धर्म अथवा संस्कृति के आग्रह के सुरक्षित रखा। दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी स्थित जैनविद्या संस्थान के पाण्डुलिपि विभाग में भी इसी प्रकार कई भाषाओं एवं कई विधाओं के ग्रंथ संगृहीत एवं सुरक्षित हैं।

धर्म प्रचार, प्राचीन साहित्य संरक्षण एवं नवीन साहित्य निर्माण के जो कार्य उपरि उल्लिखित संस्थाएं करती थीं लगभग वही कार्य विभिन्न स्थानों पर संस्थापित शोध संस्थान कर रहे हैं। जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी भी ऐसी एक संस्था है और जैनविद्या पत्रिका का प्रकाशन उसकी कई महत्त्वपूर्ण गतिविधियों में से एक है। हमें प्रसन्नता है कि हमारे इन प्रयासों का प्रबुद्ध एवं जागरूक जनता द्वारा आशातीत स्वागत हुआ है एवं इस पुनीत प्रयास में विद्वानों का भी हमें पर्याप्त सहयोग मिला है जिसके बिना इस कार्य में प्रगति असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य थी।

जिन लेखकों के लेख हमें प्राप्त हुए हैं वे धन्यवादाहर्ह हैं, आशा है भविष्य में भी हमें उनका इसी प्रकार सहयोग मिलता रहेगा। पत्रिका के सम्पादक एवं सह-सम्पादक गण भी सम्पादन में किये गये सहयोग के लिए धन्यवाद के पात्र हैं। जर्नल प्रेस के प्रोप्राइटर ने अपने अन्य सहयोगियों के साथ पत्रिका के मुद्रण को जो शुद्ध और कलापूर्ण स्वरूप प्रदान किया है उसके लिए हम उनके आभारी हैं।

नरेशकुमार सेठी

प्रबन्ध-सम्पादक

आरम्भिक

पत्रिका का पंचम अंक 'कवि वीर विशेषांक' के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। अब तक अपभ्रंश भाषा के तीन महाकवियों—स्वयंभू, पुष्पदन्त (2 अंक) एवं धनपाल पर चार विशेषांक प्रकाशित कर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का विभिन्न दृष्टिकोणों से विस्तृत अध्ययन पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है। हमारी इस प्रयास-शृंखला में 'कवि वीर' का स्थान चौथा है।

संयोग से कवि वीर ने भी अपभ्रंश भाषा के कवियों की शृंखला में अपने को चतुर्थ स्थान पर ही रखा है किन्तु उसने तृतीय स्थान पर धनपाल के स्थान में अपने पिता देवदत्त के नाम का उल्लेख किया है जो वरांगचरित्र के कर्ता थे। इससे ज्ञात होता है कि उनमें काव्य-प्रतिभा पैतृक एवं जन्मजात थी क्योंकि पिता के गुणों अथवा अवगुणों का प्रभाव उसकी सन्तान पर पड़ता ही है।

कवि ने अपनी रचना 'जम्बूसामिचरिउ' की समाप्ति वि. सं. 1076 में की थी अतः उसका काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी निश्चित है। इसकी अन्य कोई रचना अब तक उपलब्ध नहीं हुई है। इस रचना के अन्तःपरीक्षण से स्पष्ट है कि कवि का उस समय प्रचलित संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं पर समानरूप से अधिकार था और वे इन तीनों भाषाओं में काव्यरचना करने में समर्थ थे। जम्बूसामिचरिउ में विभिन्न

स्थानों पर कवि द्वारा रचित संस्कृत के श्लोकों एवं प्राकृत गाथाओं की उपलब्धि से यह बात प्रमाणित है। अपभ्रंश भाषा की तो यह रचना मुख्यरूप से है ही।

जम्बूस्वामी का चरित्र साहित्यकारों एवं धर्मप्रेमियों में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है यह इसी से प्रकट है कि उनके चरित्र को लेकर विभिन्न भाषाओं में निबद्ध 95 रचनाओं का पता तो अब तक लग चुका है जिनका उल्लेख डॉ. विमलप्रकाश जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में किया है। इसका कारण है जम्बूस्वामी की चरित्रगत विशेषता। जैनधर्म वैराग्यप्रधान धर्म है। सांसारिक विषयभोगों, धनसम्पत्ति, सुख आदि के राग को वह हेय समझता है। यह तत्त्व उनके जीवन कथानक में प्रचुरता से प्राप्त है।

जम्बूस्वामी का स्वयं का कथानक तो इतना घटनाप्रधान एवं विस्तृत नहीं है कि उस पर एक काव्य लिखा जा सके अतः कवि ने उनके कुछ पूर्वभवों का वर्णन करके एवं राग और वैराग्य के पक्ष-विपक्ष में उनकी पत्नियों, विद्युच्चर चोर एवं स्वयं उनसे कथाएं कहलवा कर कथानक को विस्तार दिया है जो उसके उद्देश्यसिद्धि में बाधक न होकर साधक ही हुई हैं। काव्य-रचना का उद्देश्य रागजन्य क्षणिक लौकिक सुखों, विषयभोगों आदि की निःसारता प्रदर्शित कर मानव को वैराग्य की ओर उन्मुख करना है जिसमें कवि पूर्णरूप से सफल हुआ है। इस प्रकार की 16 अन्तर्कथाओं का समावेश कवि ने अपनी इस रचना में किया है।

यद्यपि कवि ने अपनी इस रचना को कृति की अन्तिम प्रशस्ति में 'शृंगार-वीरे' शब्दों का प्रयोग कर शृंगार एवं वीर रस प्रधान कहा है किन्तु वास्तव में ग्रंथ में शृंगार और उसके विरोधी निर्वेद रसों का ही परिपाक हुआ है, वीर रस का समावेश तो उसमें प्रसंगवश ही हुआ है।

डॉ. विमलप्रकाश जैन के अनुसार कवि ने 16 प्रकार के अलंकारों, 27 प्रकार के छंदों एवं 11 प्रकार के घत्ता छंद का प्रयोग किया है। कहने का अभिप्रायः यह है कि कवि रस, छंद, अलंकार आदि विषयों का पारंगत विद्वान् था जिसका विस्तृत परिचय पाठकों को इस अंक में प्रकाशित विद्वानों की अन्य रचनाओं से प्राप्त होगा।

आधुनिक भाषाओं के विकास में अपभ्रंश भाषा का क्या महत्त्व और योगदान रहा है इस पर अब तक देश-विदेश के विभिन्न विद्वानों द्वारा पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है अतः अब इस सम्बन्ध में और अधिक लिखना पिष्टपेषण मात्र ही होगा।

गत अंकों की भांति ही इस अंक में भी अपभ्रंश भाषा की एक अन्य अप्रकाशित लघु रचना सानुवाद प्रकाशित की जा रही है जो रावण और मन्दोदरी के संवादरूप में है जिसमें सांसारिक विषयभोगों की क्षणभंगुरता, धर्म की महत्ता आदि विषयों का बड़ी रोचक शैली में

वर्णन किया गया है। आशा है पाठकों के लिए रचना सुहृदिपूर्ण एवं मनोरंजक होने के साथ-साथ पर्याप्त शिक्षाप्रद भी होगी।

पत्रिका का आगामी अंक करकण्डचरिउ के कर्ता मुनि कनकामर एवं सुदंसणचरिउ तथा सयल-विहि-विहाण के रचनाकार मुनि नयनंदि पर संयुक्त रूप से प्रकाशित होगा।

संस्थान समिति, सम्पादक मण्डल के सदस्यों तथा अपने सहयोगी कार्यकर्ताओं एवं इस अंक के लिए जिन विद्वानों ने अपनी रचनाएं भेजी हैं उन सभी के प्रति हम आभारी हैं। कलापूर्ण मुद्रण के लिए मुद्रकों के प्रति भी कृतज्ञ हैं।

(प्रो०) प्रवीणचन्द्र जैन
सम्पादक

जंबूसामिचरिउ के यशस्वी महाकवि वीर का व्यक्तित्व

—डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया



वैदिक, बौद्ध और जैन संस्कृतियां मिलकर भारतीय संस्कृति को जन्म देती हैं। वैदिक वाङ्मय को वेद, बौद्ध वाङ्मय को त्रिपिटक और जैन साहित्य को आगम की संज्ञा से अभिहित किया जाता रहा है। आगम चार अनुयोगों में विभक्त किया गया है। प्रथमानुयोग—पुराण, कथा, चरित। द्वयानुयोग—सैद्धांतिक साहित्य। चरणानुयोग—आचारपरक धार्मिक साहित्य। करणानुयोग—जैन भूगोल, गणित, ज्योतिष आदि। ये मिलकर अनुयोग की संज्ञा प्राप्त करते हैं। प्रथमानुयोग के वातायन से आधुनिक प्राकृत, संस्कृत, मागधी, अर्द्ध-मागधी, अपभ्रंश तथा अन्य अनेक भारतीय भाषाओं में जैन साहित्य रचा गया है। अपभ्रंश साहित्य में भी प्रभूत परिमाण में जैन काव्य उपलब्ध हैं। महाकवि वीर प्रणीत “जंबूसामिचरिउ” काव्य-कृति इस परम्परा में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यहां इस महत्त्वपूर्ण कृतिकार के व्यक्तित्व के विषय में चर्चा करना हमारा मूलाभिप्रेत रहा है।

व्यक्तित्व क्या है? इस बिन्दु पर बहुविध विचार हुए हैं। प्राण अथवा आत्मतत्त्व जब पर्याय ग्रहण करता है तब वह प्राणी कहलाता है। प्राणतत्त्व नित नवीन किन्तु शाश्वत है जबकि पर्याय में नित्य परिवर्तन हुआ करते हैं, वह विनाशीक है। अन्तर और बाह्य बातों का समीकरण जब पर्याय को परिपुष्ट कर जो रूप प्रदान करता है कालान्तर में वही उस पर्याय का व्यक्तित्व बन जाता है। व्यक्तित्व में प्रतिक्षण परिवर्तन होते रहते हैं। प्राणी की

तीन स्थितियां होती हैं—प्रथम उसका अन्तर्जगत् जहां भाव, मनोभाव, विचार, संस्कार आदि की प्रधानता रहती है, यही प्राधान्य उसके द्वारा कृत समस्त क्रिया-कलापों को ऊर्जा-शक्ति प्रदान करता है। दूसरा उसका बाह्य जगत् है जहां प्रकृति का अनंत विस्तार-वैभव है। इसी के योग-सहयोग से वह कल्पना-जल्पना का ताना-बाना बुना करता है तब उसके बीच नाना त्रिभ्व स्थिर होते रहते हैं। अन्तर-बाह्य दोनों के मध्य वह स्वयं है, यही वस्तुतः उसका तीसरा स्वरूप है। इन तीनों का समवाय किसी भी प्राणी के व्यक्तित्व के रूप को स्वरूप प्रदान करता है।

वातावरण व्यक्तित्व को विकसित करता है। कृत और प्राकृत दो मुख्य वातावरण हैं जो उसे बहुविध अनुप्राणित करते हैं—कृत में सभ्यता अथवा साहित्यमूलक वातावरण और जातीय स्वभावमूलक वातावरण अपनी मुख्य भूमिका का निर्वाह करते हैं, प्राकृत में स्वयंजात प्रवृत्ति-प्रभुता तथा प्राणी का व्यक्तिगत वातावरण सम्मिलित रहता है। “पर्सनलटी” नामक कृति में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पृष्ठ 99 पर स्पष्ट किया है—व्यक्तित्व पर सर्वाधिक प्रभाव डालने-वाला सभ्यतामूलक वातावरण है क्योंकि विचार और भावनाओं का निर्माण, आचार और विहार का ज्ञान तथा प्रवृत्ति और निवृत्ति का निर्माण मनुष्य इसी वातावरण से सीखता है।

उपादान और निमित्त दो मुख्य बल हैं जिनके सम्यक् सहयोग से किसी कार्यक्रम का सम्पादन हुआ करता है। कोई चाहे मात्र उपादान बल से किसी कर्म को कर ले अथवा मात्र निमित्त के बल से उसे सम्पादित कर ले तो यह किसी प्रकार सम्भव नहीं है। प्राणी का कर्म-विधान इनके सम्मिलित सहयोग से प्रायः संचालित हुआ करता है। प्राणतत्त्व और पर्याय के समवाय से प्राणी का स्वभाव मुखर होता है। मानव स्वभाव के अनुसार उनकी जिज्ञासाओं की पूर्ति का दायित्व उस पर आजाने से उसे अपने व्यक्तित्व को उसी प्रकार के साँचे में ढालना अनिवार्य हो जाता है। कविमनीषी महाकवि वीर का व्यक्तित्व विषयक संक्षिप्त विचार इसी आधार पर किया जा सकता है।

मालवा देश के अन्तर्गत ‘गुलखेड’ नामक ग्राम था जहां अपभ्रंश के ख्यातिप्राप्त कवि देवदत्त और उनकी पत्नी श्रीमती सन्तु अथवा सुन्तुव के शुभ कर्मोदय से पुत्र ने जन्म लिया और कालान्तर में वे संज्ञायित हुए वीर, महाकवि वीर। इनका गोत्र-वंश लाड वागड था। इसका मूल विकास काष्ठासंघ से हुआ जैसा कि पट्टावलि भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति में उल्लिखित है। यथा—

काष्ठासंघो भुविस्थातो जानन्ति नसुरासुराः ।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुतः क्षितौ ॥
श्री नन्दितट संज्ञश्च माथुरो बागडाभिधः ।
लाडबाग इत्येते विख्याता क्षिति मण्डले ॥

कवि के तीन सुधी सहोदर थे। उनके शुभ नाम थे सीहल्ल, लक्षणांक तथा जसई। जंबूसामिचरिउ नामक कृति की प्रशस्ति में स्वयं कवि ने लिखा है—

जस्स य पसण्णवयणा लहुरणी सुमइ सहोयरा तिण्णि ।
सीहल्ल, लक्खणंका जसइ नामे त्ति विक्खाया ॥ 7 ॥

जिसके तीन-तीन सहोदर हों उनकी पारिवारिक स्थिति विशेष हुआ करती है। इसी पारिवारिक विशेषता ने कवि के व्यक्तित्व को प्रभावित किया है।

कवि ने बड़ी मनोयोगपूर्वक काव्य, व्याकरण, तर्क, कोष और छन्दशास्त्र का अध्ययन किया। तत्पश्चात् आप ने अनुयोग-अनुशीलन में अपने पुरुषार्थ का उपयोग लगाया। आप द्रव्यानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग आदि विषयों के विज्ञ बन गये। इससे यह भली-प्रकार जाना जा सकता है कि कवि का व्यक्तित्व एक सुधी जैनविद्या से दीक्षित रहा है। इतना ही नहीं कवि ने तत्कालीन जैनतर विद्या और ग्रंथीय ज्ञान का अर्जन किया। आप ने बाल्मीकि रामायण, महाभारत, शिवपुराण, विष्णुपुराण, भरत-नाट्य-शास्त्र, सेतुबंध-काव्य आदि का विधिपूर्वक स्वाध्याय किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि कवि के व्यक्तित्व में एक शिक्षित तथा शास्त्रज्ञ के गुणों का सामंजस्य रहा है। वे अपने समय के उच्च शिक्षा-प्राप्त सद्भावक थे। ज्ञान से व्यक्तित्व की जीवनचर्या प्रभावित हुआ करती है। वीर कवि के व्यक्तित्व में शिक्षा के गुणों की अतिरिक्त प्रभावना रही है।

बयस्क होने पर कवि अपनी वैवाहिक चर्या में दीक्षित हुए और एक दो नहीं चार-चार शादियां रचाईं। इनकी पत्नियों के नाम थे—जिनमति, पद्मावती, लीलावती और जयावती। इनकी प्रथम पत्नी से विनम्र स्वभावी तथा सुधी शुभप्रिय नेमीचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। इस घटना की प्रामाणिकता के लिए अन्तःसाक्ष्य के रूप में कवि-प्रशस्ति का उल्लेख करना अन्यथा नहीं है। यथा—

जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुरो बीया ।
लीलावइ त्ति तइया पच्छिमभज्जा जयादेवी ॥ 8 ॥
पढमकलत्तंगरुहो संताणंकयत्तविडविपारोहो ।
विणयपुराणमणिनिहाणो तरणओ तह नेमिचन्दो त्ति ॥ 9 ॥

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। इनका समीकरण किसी व्यक्ति में पुरुष के संस्कार उत्पन्न करता है। कवि के जीवन में त्रय पुरुषार्थ धर्म, अर्थ और काम मुखरित थे। आपका बहुत सारा समय राजकार्य में व्यतीत होता था। कहते हैं कवि का अंतरंग भक्ति रस से भी आप्लावित था। अपनी भक्त्यात्मक तीव्र भावना के बलबूते पर ही आपने पत्थर के एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण करवा कर वहां वर्द्धमान जिन प्रतिमा का प्रतिष्ठापन कराया। यद्यपि इस प्रतिमा पर कोई सन्-संबत् उत्कीर्ण नहीं है तथापि प्रशस्ति लेखन से पूर्व इसकी रचना पूर्ण हो चुकी थी, यह तय है। यथा—

सोउ जयउ कई वीरो वीरजिणंदस्स कारियं जेण ।
पाहाणमयं भवणं पियरुद्देसेण मेंहवणे ॥ 10 ॥

अंतरंग की भावनाएं किसी न किसी प्रकार व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण में कारगर भूमिका का निर्वाह करती हैं ।

महाकवि वीर के व्यक्तित्व में अनेक उदात्त गुणों का सामंजस्य था । जहां वे भक्ति रस में निमग्न थे वहां दूसरी ओर कवि को समाज के विभिन्न वर्गों एवं जीवनयापन के विविध साधनों का साक्षात् अनुभव था । कवि की मान्यता रही है कि एक सच्चे पुरुष की चर्या में दरिद्रों को दान देना, दूसरों के दुःख में दुःखी होना अवश्य सम्मिलित होना चाहिए । कवि का हृदय परोपकार और सहृदयता से भरा-उभरा हुआ था । कवि के अनुसार हाथ में धनुष, साधु-चरित्र महापुरुषों के चरणों में शिरसः प्रणाम, बोल में अनमोल किन्तु सत्यतापूर्ण वाणी—बोल, हृदय में स्वच्छ-प्रवृत्ति, कानों में सुने हुए श्रुत का ग्रहण तथा दो भुज-लताओं में विक्रम यह वीर का सहज परिकर हुआ करता है । कवि ने स्वरचित काव्य-कृति की षष्ठ संधि में स्पष्ट किया है—

दैंत दरिद्दं परवसणद्धम्मणं सरसकव्वसव्वस्सं ।
 कइवीरसरिसपुरिसं धरणि धरंती कयत्थासि ॥
 हत्थे चाग्रो चरणपणमणं साहुसीलाण सीसे ।
 सच्चावाणी वयणकमलए वच्चे सच्छापवित्ती ॥
 कण्णालोयं सुयसुयगहणं त्विकमो दोलयाणं ।
 वीरस्सेसो सहजपरियरो संपया कज्जमणं ॥ 6.1.1-6

प्रसिद्ध मनीषी डॉ. विमलप्रकाश जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध में स्वयं प्रमाणसहित कहा है कि वीर कवि पूर्ण रूप से एक अनुकम्पावान् सल्लक्षण जैन गृहस्थ होने के साथ ही एक सच्चे वीर पुरुष भी थे । इतना निश्चित है कि कवि धार्मिक, श्रद्धालु, भक्तिपूर्ण, विरल, व्रती तथा कर्म संस्कारों पर श्रद्धान से भी महापुरुष थे । उनकी प्रकृति उदार तथा मिलनसार थी । कवि की मान्यता रही है कि सांसारिक जीवन-साफल्य के लिए अपने अंतरंग में वीरता नामक गुण को जाग्रत करवा भी आवश्यक है । यही कारण रहा है कि कवि ने जहां अपने काव्य में सुख-शांति का विशद वर्णन किया है वहां उसने युद्धों का भी ऐसा सजीव चित्रण किया है जिससे यह सहज ही कहा जा सकता है कि कवि वीर युद्ध भूमि में भी अवश्य अवतीर्ण हुए होंगे ।

किसी भी कार्य की संप्रेरणा उसको सम्पन्न कराने में मुख्य आधार हुआ करती है । कवि के व्यक्तित्व में व्याप्त अन्तर-बाह्य गुणों से अभिभूत होकर मालवा के धक्कड़ वंशीय तिलक मधुसूदन के सुपुत्र तक्कड़ श्रेष्ठि रहते थे । कहते हैं कि आप वीर कवि के पिता कवि श्री देवदत्त के अभिन्न किन्तु घनिष्ठ मित्र थे । उन्होंने वीर कवि को “जंबूसामि” का चरित्र लिखने की प्रेरणा दी । तक्कड़ श्रेष्ठि के भाई भरत ने ग्रन्थ को न अधिक विस्तृत और न ही अधिक संक्षिप्त अर्थात् सामान्य कथावस्तु को शब्दायित करने का आग्रह किया । इसका परिणाम कवि कृत जंबूसामिचरित्र है । इसे हम शास्त्रीय शब्दावलि में निमित्त कारण ही कहेंगे किन्तु उपादान बल तो कवि के अन्तरव्यक्तित्व के अनुसार सक्रिय हुआ है । इसी के बलबूते पर कवि ने प्रस्तुत काव्य में आत्माभिव्यक्ति की है । काव्य में अभिव्यक्त इतिवृत्तात्मकता

निमित्त कारण का सुपरिणाम कहा जा सकता है। परन्तु जहां दैवीय गुणों की व्यंजना हुई है वह कवि के अन्तरव्यक्तित्वजन्य गुणों का ही सुपरिणाम है। वाणी चरित्र की प्रतिध्वनि होती है। फलस्वरूप कवि के व्यक्तित्वपरक सभी गुणों का अभिव्यंजन उनके काव्य में परिलक्षित है। यही कारण है कि वीर कवि कृत जंबूसामिचरिउ अकेला और पहला काव्य है जिसने कवि को न केवल प्रसिद्धि के ऊंचे अद्वि तक ही पहुंचाया अपितु उसका अंतरंग भी आत्मतोष से भर दिया। प्रस्तुत काव्य में उनके व्यक्तित्वपरक जीवंत गुण सत्यवादिता, हृदय की निर्मलता, स्वाध्यायप्रियता, भुज-पराक्रमता तथा दयाभाव-प्रियता और भक्त्यात्मकता आदि मुखर हो उठे हैं।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का गठन अनेक तत्त्वों के सम्मिश्रण से हुआ था। वह जीवन के पग-पग पर मिलनेवाले अच्छे-बुरे पक्ष को साथ लेकर चले थे। परिणामस्वरूप वीर कवि अनुभूति सम्पदा के पूर्ण धनी थे। उन्हें फूलों की समृणता और कंटकों के संताप का पूर्ण परिचय भी प्राप्त था। उनके व्यक्तित्व के आधारभूत तत्त्व जीवन के सम्पूर्ण भार को वहन करने में समर्थ थे। जीवन की हर भूमिका पर साधा हुआ उनका विलक्षण व्यक्तित्व विरोधी तत्त्वों की पूंजीभूत व्याख्या की आश्चर्यपूर्ण अभिव्यंजना थी।



अध्रुवानुप्रेक्षा

गिरिनइपूरु व आउसु खुट्टइ,
पक्कफलं पि व माणसु तुट्टइ ।
सियलावणु-वणु-जोव्वण वलु,
गलइं नियंतहो रां अंजलिजलु ।
बंधव-पुत्त-कलत्तइं अण्णइं,
पवणाहयइं जंति रां पण्णइं ।
रह- करि- तुरय- जाण- जंपाणइं,
अहिणवघणउन्नयण समाणइं ।
चामर- जत्त- चिध- सिंघासणु,
विज्जुलचवल विलासुवहासणु ।
आसि निमित्तु जं जि अणुरायहो,
दिवसहि कारणु तं जि विसायहो ।
मोहें तो वि जीउ अणुगण्णइं,
अजरामरु अप्पाणउं मण्णइं ।

अर्थ—पहाड़ी नदी के भराव के समान आयु समाप्त हो जाती है; मनुष्य जन्म पके फल के समान टूट कर गिर जाता है; श्री, सौन्दर्य, वर्ण, यौवन और बल हाथ की अंजुलि में जल की भाँति नित्य ही गलते रहते हैं; बांधव, पुत्र, स्त्री एवं अन्य परिजन पवन द्वारा उड़ाये हुए पत्तों की तरह चले जाते हैं; रथ, हाथी, घोड़े, यान और पालकी मेघ की तरह विलय हो जाते हैं; चंवर, छत्र, ध्वजा और सिंहासन बिजली के चपल विलास की भी हंसी उड़ाते हैं; जो वस्तु अभी जीव के अनुराग का निमित्त है वही बाद में उसके विषाद का कारण बन जाती है तो भी जीव इस तथ्य की अवहेलना करता है और स्वयं को अजर-अमर मानता है ।

महाकवि वीर और उनका जम्बूसामिचरिउ

एक समीक्षात्मक अध्ययन

—डॉ० जयकिशनप्रसाद खण्डेलवाल

□

अपभ्रंश के महाकवि वीर की सुप्रसिद्ध रचना 'जम्बूसामिचरिउ' ग्यारहवीं शती की रचना है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति आमेर शास्त्र भण्डार में है। कविवर वीर का रचना-काल ग्यारहवीं शती का उत्तरार्ध है। ये ग्यारहवीं शती के प्रथम चरण में हुए। इनके पिता का नाम देवदत्त और माता का सन्तुग्रा था। इनकी कई पत्नियां थीं। इनके पिता देवदत्त अच्छे कवि थे। उन्होंने पद्धियाबन्ध में "वरांग चरित" नामक चरितकाव्य की रचना की थी। वीर कवि अपने पिता की गणना अपभ्रंश के स्वयंभू और पुष्पदन्त के समकक्ष करते हैं।²

काव्यरूढ़ियां

कविवर वीर ने अपने काव्य के कथा-प्रवाह में अपभ्रंश काव्य की सभी काव्य-रूढ़ियों का निर्वाह किया है। कथा के बीच-बीच में कवि ने संस्कृत में आत्मप्रशंसा भी की है। कवि ने कथानायक के जन्म-जन्मांतरो का वर्णन किया है। वर्तमान यश, प्रताप और वैभव के मूल में कवि ने जम्बूस्वामी के पूर्वभवों का घटनाक्रम प्रस्तुत किया है। इस प्रकार कवि ने यह सिद्ध किया है कि 'मनुष्य' जो कुछ होता है वह अपनी अतीत घटनाओं का फल होता है। नवीन धर्मानुष्ठानों से वह अपने भविष्य को सुधार सकता है और वर्तमान को सन्तुलित रख सकता

है। अपभ्रंश के जैन चरितकाव्यों की भांति ही उसके जीवन की परिसमाप्ति भी विरक्ति में होती है। कवि ने श्रोता-वक्ता शैली, कथा की आर्ष-परम्परा वही जानी-मानी राजा श्रेणिक और गौतम गणधर से प्रारम्भ की है। जम्बूस्वामी का चरित्र ही केन्द्रीय चरित्र है, शेष पात्र एवं घटनाएँ उसी के परिप्रेक्ष्य में नियोजित हैं। कवि ने अनेक साहित्यिक शैलियों और वर्णनों को प्रस्तुत किया है, जिससे उनके चरितकाव्य का कथानक अस्वाभाविक हो उठा है। इसमें अन्य विशेषताएँ अपभ्रंश परम्परा की हैं। नौ रसों से उद्बलित कथा का प्रथमन शान्त रस में होता है।

कथानक

मंगलाचरण के पश्चात् कवि सज्जन-दुर्जन-स्मरण करता है। वह अपने से पूर्वकाल के कवियों का स्मरण करता हुआ अपनी अल्पज्ञता को व्यक्त करता है।³ पुनः कवि ने मगध-देश और राजगृह का अत्यन्त सुन्दर काव्य-शैली में चित्रोपम वर्णन किया है। परंपरा के अनुरूप मगध के राजा श्रेणिक और उसकी रानियों का वर्णन है। नगर के समीप उपवन में इन्द्ररचित भगवान् महावीर के समवशरण में पहुंचकर श्रेणिक जिन भगवान् की स्तुति करते हैं।⁴

श्रेणिक के प्रश्नों का उत्तर वर्द्धमान देते हैं, तभी आकाशमार्ग से एक तेजपुंज विद्युन्माली आता है। राजा उसके पूर्वजन्म के विषय में पूछते हैं तब जिनदेव उसके पूर्वजन्म की कथा सुनाते हैं। मगध देश के वर्द्धमान नामक ग्राम में एक गुणवान् ब्राह्मण तथा ब्राह्मणी रहते थे। उनके दो पुत्र हुए भवदत्त और भवदेव। जब वे क्रमशः 18 और 12 वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया और उनकी मां सती हो गई। भवदत्त विरक्त हो दिग्म्वर मुनि बन गये और 12 वर्ष तपस्या करने के बाद एक दिन संघ के साथ वे अपने गांव के पास गये। दूसरा भाई विवाह की तैयारी में लगा था किंतु अपने भाई के समझाने पर उनके आग्रह को न टाल सका और संघ में दीक्षित हो 12 वर्ष तक इधर-उधर भ्रमण किया। एक दिन वह ग्राम के निकट गया तो वह पुनः विषय-भोग में निरत होना चाहता था। नागवसु ने उसे प्रबोध दिया। दोनों भाई अनेक जन्म-परम्पराओं में भ्रमण करते हुए तप करते हुए मरणान्तर स्वर्ग को जाते हैं।

स्वर्ग से च्युत होकर भवदत्त का जन्म पुंडरीकिनी नगरी में वज्रदन्त राजा की रानी यशोधना के पुत्र के रूप में हुआ। उसका नाम सागरचन्द रखा गया। वीताशोक नामक नगरी के चक्रवर्ती राजा महापद्म एवं उनकी रानी वनमाला के यहां भवदेव ने शिवकुमार के रूप में जन्म लिया। सागरचन्द अपने पूर्वजन्म के मुनिसंस्कार का स्मरण कर विरक्त हो-तपश्चर्या में लीन हो गया। शिवकुमार 105 राजकन्याओं से परिणय कर भोग-विलास का जीवन बिताने लगा। एक बार सागरचन्द वीताशोक नगरी में गया। वहां उसे मुनिरूप में देख शिवकुमार को अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। उसमें वैराग्य भाव जागृत हो गये और उसने घरबार छोड़ना चाहा किंतु पिता के समझाने पर घर में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। तरुणीजनों के साथ रहते हुए भी वह विरक्त सा रहता था। मरने के पश्चात् वह विद्युन्माली देव हुआ। सागरचन्द भी सुरलोक में इन्द्र के समान देव हुआ। जिनवर वर्द्धमान

ने मगधराज श्रेणिक को बताया कि वही विद्युन्माली यहां आया था । सातवें दिन वह मनुष्य रूप में पश्चिम केवली अवतीर्ण होगा ।

चौथी संधि में वीर कवि की संस्कृत में प्रशंसा निबद्ध है । इसी संधि में जम्बूस्वामी के जन्म का वर्णन है । सइत्तउ नगरी में संताप्पिउ वणिक् के पुत्र अरहदास की स्त्री ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न में जम्बूफल आदि शुभ वस्तुएं देखीं । समय पर जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसका नाम स्वप्नानुसार जंबूस्वामी रखा गया । जंबूस्वामी अत्यधिक सुन्दर थे, जिन्हें देखकर नगरवधुएं उन पर आसक्त हो जाती थीं । इसी प्रसंग में कवि ने वसन्तोत्सव, जलक्रीड़ा⁵ आदि का और जम्बू द्वारा मत्तगज को परास्त करने का वर्णन किया है ।

चरितकाव्य की पांचवीं से सातवीं संधि तक जम्बू के अनेक वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन है । महर्षि सुधर्मा स्वामी अपने पांच शिष्यों के साथ उपवन में आते हैं, जंबू उनके दर्शन कर नमस्कार करते हैं । मुनि से वे अपने पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो घर छोड़ना चाहते हैं, माता समझाती है और सागरदत्त आदि चार श्रेष्ठियों की कमलश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री नामक चारों कन्याओं से जम्बू का विवाह हो जाता है । यहीं आठवीं संधि समाप्त होती है ।

नवीं संधि में जंबू के वैराग्य का वर्णन है । वह वैराग्य प्रतिपादक कथानक कहता है और उसकी पत्नियां वैराग्य विरोधी कथाएं कहती हैं । इस प्रकार आधी रात हो गई और जम्बू का मन विषयों से विरत रहा । इसी समय विद्युच्चर चोर वहां आता है । जम्बू की मां उससे कहती है कि यदि वह उसके बेटे को वैराग्य से विमुख कर दे तो वह जो चाहे ले जा सकता है । चोर जब जम्बू की माता से उसके वैराग्य की बात सुनता है तो वह प्रतिज्ञा करता है कि या तो उसे रागी बना दूंगा अन्यथा स्वयं वैरागी हो जाऊंगा ।⁶ जम्बू की माता विद्युच्चर को अपना छोटा भाई कहकर जम्बू के पास ले जाती है ताकि वह उसे रागी बना सके ।

दसवीं संधि में जम्बू और विद्युच्चर एक दूसरे को प्रभावित करने के लिए अनेक व्याख्यान सुनाते हैं । जम्बू स्वामी वैराग्यप्रधान एवं विषय-भोग की निस्सारता प्रतिपादक व्याख्यान कहते हैं और विद्युच्चर इसके विपरीत वैराग्य की निस्सारता दिखलानेवाले भोग-प्रतिपादक व्याख्यान प्रस्तुत करते हैं किंतु अन्त में जम्बूस्वामी की विजय होती है । वे सुधर्मा-स्वामी से दीक्षा लेते हैं और उनकी चारों पत्नियां भी आधिकार्यें बन जाती हैं । जम्बूस्वामी ने तपश्चर्या द्वारा केवलज्ञान प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त किया ।

ग्यारहवीं संधि में विद्युच्चर दशविध धर्म का पालन करते हुए तपस्या द्वारा सर्वार्थ-सिद्धि प्राप्त करते हैं । अन्त में कवि ने जम्बूचरिउ के पढ़ने से होनेवाले मंगल-लाभ का संकेत में वर्णन करते हुए काव्य की परिसमाप्ति की है ।

कथानक की समीक्षा

यह चरितकाव्य अपभ्रंश जैन चरितकाव्य की शैली में रचित एवं उन्हीं की रूढ़ियों और परम्परा में निबद्ध है । इसमें जम्बूस्वामी के पूर्व-जन्मों का वर्णन है । जम्बू पूर्वभव में

भवदेव व शिवकुमार थे। उनका बड़ा भाई भवदत्त और सागरचन्द्र था। भवदेव के जीवन में स्वाभाविकता है किन्तु भवदत्त की कथा अनावश्यक है। वह प्रतिनायक के रूप में भी अंकित नहीं किया गया है। फिर भी उसके द्वारा भवदेव के जीवन में उतार-चढ़ाव और अन्तर्द्वन्द्व का चित्र अंकित किया जा सका है। जम्बूस्वामी की अनेक पत्नियों के पूर्व-जन्म प्रसंग भी कथा-प्रवाह में कोई योग नहीं देते। जम्बूस्वामी का चरित्र कवि ने बड़े स्वाभाविक ढंग से प्रस्तुत किया है। उसके चरित्र का अच्छा विकास हुआ है। वह कभी विषय-वासनाओं की ओर प्रवृत्त होता है तो कभी विराग एवं त्याग की भावनाओं से संसारविरत होना चाहता है। जम्बूस्वामी के चरित्र विकास में कवि ने अपने कौशल का प्रदर्शन किया है। अन्य किसी पात्र के चरित्र का विकास कवि को इष्ट नहीं था। प्रस्तुत चरितकाव्य में कवि का उद्देश्य प्रतीक रूप में जम्बूस्वामी की कथा प्रस्तुत करना है। कवि ने राग और विराग का द्वन्द्व दिखाने के लिए सारी घटनाएं एवं जम्बूस्वामी की जन्मपरम्पराओं का वर्णन किया है। कवि ने स्पष्ट दिखाया है कि मनुष्य राग से ऊपर उठना चाहता है किन्तु सांसारिक परिस्थितियां उसे ऊपर नहीं उठने देतीं। जम्बूस्वामी के जन्म-जन्मान्तरों का वर्णन करके कवि ने उसके चरित्र के द्वारा इसी बात को दर्शाया है। निष्कर्ष रूप में कवि ने यह सिद्ध किया है कि निरन्तर साधना के अनन्तर ही व्यक्ति अपने राग एवं सांसारिक परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। यही निदान है, यही समाधान है।

शिल्प-विधान

जम्बूसामिचरित अपभ्रंश चरितकाव्य परम्परा में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें अन्य अपभ्रंश चरितकाव्यों की भांति ग्राम, नगर, अरण्य, सूर्योदय, सूर्यास्त, युद्ध, स्त्री सौन्दर्य, आदि का सुन्दर वर्णन मिलता है। इन वर्णनों में अनेक स्थल कवित्व के सुन्दर उदाहरण हैं। कवि वीर ने वर्णनों में प्राचीन सौष्ठववादी (अलंकारवादी) कवियों का भी अनुसरण किया है और बाण के अनुकरण पर श्लेषयुक्त शैली में प्रकृति का वर्णन किया है। उनका विन्ध्याटवी का वर्णन बाण की परम्परा में है।⁷ विन्ध्याटवी महाभारत की रणभूमि के समान थी। रणभूमि-रथसहित (सरह) और भीषण थी और उसमें हरि, अर्जुन, नकुल और शिखण्डी दिखाई देते थे। विन्ध्याटवी अष्टपदों (सरह) से भीषण थी और उसमें सिंह (हरि), अर्जुन वृक्ष, नेवले और मयूर दिखाई देते थे। रणभूमि-गुरु द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, श्रेष्ठ कर्लिगाधिपति और उत्कृष्ट राजाओं से युक्त थी, बाणों से आच्छन्न और गजों से गर्जित थी। विन्ध्याटवी बड़े-बड़े अश्वत्थ, आम्र, कलिगतुल्य चार वृक्षों से युक्त थी, गज-गर्जित सरो-वरों और महिषों से पूर्ण थी। वह विन्ध्याटवी लंका नगरी के समान थी। आदि आदि।

इस प्रकार कवि वीर ने बाण की सी श्लिष्ट भाषा एवं वर्णन-शैली का प्रयोग करके अनेक स्थलों पर अलंकारों का चमत्कार प्रस्तुत किया है। ऐसे स्थलों पर भावग्रहण एवं रसोत्पत्ति कठिन हो गई है। इसी प्रकार का वेश्या-वर्णन भी है।⁸ जहां कवि ने श्लिष्ट शैली नहीं अपनाई है वहां उसकी भावाभिव्यक्ति मार्मिक बन पड़ी है। नारी सौन्दर्य का मार्मिक वर्णन निम्नांकित गाथा एवं दोहे में द्रष्टव्य है—

एयाण वयणतुल्लो होमि न होमि त्ति पुण्णिणमावियहे ।
थिर मंडलाहिलासी चरइ व चंदायणं चंबो ॥⁹
चलणच्छवि-सामफलाहिलासी-कमलेहिं सूरकरसहरण ।
चिञ्जइ तवं व सलिले निययं घित्तूण गलपमाणम्मि ॥¹⁰

अर्थात् इन सुन्दरियों के मुख के समान होऊंगा या नहीं, यही विचारता हुआ प्रियमण्डल का अभिलाषी चन्द्रमा मानो चान्द्रायण व्रत किया करता है । उनके चरणों की शोभा की समता के अभिलाषी इन कमलों से अपने को गले तक पानी में डाल कर और ऊपर सूर्य की किरणों को सहते हुए मानों नित्य तप किया जाता है ।

कवि ने बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति की है ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा ने सामान्य संसार की रचना की । इन सुन्दरियों की रचना कोई अन्य ही प्रजापति करता है ॥¹¹

रस-योजना

कवि ने ग्रन्थ समाप्ति की पुष्पिका में अपने चरितकाव्य को शृंगार वीर महाकाव्य कहा है ॥¹² इस चरितकाव्य में शृंगार रस की सुन्दर व्यञ्जना तो अनेक स्थलों पर हुई है किन्तु युद्ध-वर्णन में भी वीर रस की निष्पत्ति नहीं हो पाई है । सभी चरितकाव्यों में विवाह से पूर्व वीरता प्रदर्शन के अवसर मिलते हैं, प्रस्तुत काव्य में भी यह परम्परा मिलती है । जम्बू के विवाह के लिए अनेक सुन्दरियों के चित्र आए जिनका चित्रोपम वर्णन कवि ने किया है । केरलि, कोतलि, सञ्जाइरि (सह्याचलवासिनी), मरहट्टी, मालविणि आदि अनेक प्रकार की स्त्रियों के स्वभाव का भी कवि ने सुन्दर निर्देश किया है ॥¹³ इस प्रकार कवि ने नायिका भेद का अस्फुट सा आभास प्रस्तुत किया है और शृंगार के उद्दीपन के लिए अनेक प्राकृतिक दृश्य उपस्थित किये हैं ॥¹⁴ फिर काव्य का परिणामी रस शान्त रस है और निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति हुई है । काव्य आदि और अन्त में धार्मिक पर्यावरण प्रस्तुत करता है । शृंगार और वीर रसपरक इस चरितकाव्य का पर्यवसान शान्तरस में होने से इसे शृंगार-वीर काव्य नहीं कह सकते । काव्य में सांसारिक विषयों को त्यागकर वैराग्य भाव जाशुत करने में ही कवि का उत्साह परिलक्षित होता है । श्रांगारिक भावों को दबाकर उन पर विजय पाने में ही वीरता दिखाई पड़ती है और इसी दृष्टि से इसे शृंगार-वीर काव्य कहा जा सकता है । डॉ. रामसिंह तामर ने इसे शृंगार-वैराग्य परक चरितकाव्य कहा है ॥¹⁵ यही मत अधिक संगत प्रतीत होता है । इस चरितकाव्य में शृंगार और वीर के सहायक रस भी पाये जाते हैं । प्रकृति के उद्दीपन रूप में वर्णन रति भावानुकूल कोमल और मधुर पदावली में प्रस्तुत हैं, जैसे वसंत-वर्णन ॥¹⁶ इसी प्रकार राजा की उद्यान-क्रीड़ा का वर्णन एवं उसकी पदयोजना भावानुकूल ही हुई है । उद्यान में भ्रमरों का गुंजन, राजा का मंद-मंद भ्रमण, पुष्प-मकरन्द से सरस एवं पराग रज से रजित, शांत और मधुर वातावरण शब्दों के द्वारा अभिव्यंजित हो उठता है और पाठक के समक्ष एक शब्द-चित्र प्रस्तुत हो जाता है ॥¹⁷

भाषा-सौष्ठव

वीर कवि ने अपने काव्य में भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है । उनकी भाषा प्रवाहपूर्ण एवं प्रांजल है । यथा—

को विवायर गमणु पडिल्लइ ।
जममहिस सिगुवखणइ ।
कवणु गरुडमुहकुहरे पइसइ ॥
को कूरगहु निगगहइ ।¹⁸

कवि ने भाषा में अनुरणनात्मक पदावली का प्रयोग भी किया है। युद्ध के समय बजते हुए नाना वाद्यों की ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है। देखिए—

धुमुधुम्मुक-धुमुधुमियमहलवरं ।¹⁹ आदि

अलंकार

कवि ने सादृश्यमूलक उपमा तथा उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा वस्तु स्वरूप-बोध को ध्यान में रखा है। उनका प्रयोग कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए स्वाभाविक रूप से किया है।

छन्द

कवि ने पञ्चट्टिका, घत्ता, दुवई, दोहा, गाथा, वस्तुखंडय आदि मात्रिक छन्दों का और स्रग्विणी, शिखरिणी, भुजंगप्रयात आदि वर्णवृत्तों का प्रयोग किया है। उनकी गाथाओं की भाषा प्राकृत से प्रभावित है।

निष्कर्ष यह है कि अपभ्रंश की चरितकाव्य परम्परा में जम्बूसामिचरिउ का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

1. जम्बूसामिचरिउ, महाकवि वीर, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, सीरीज-7 ।
2. संते संयभुएवे एकको य कइत्ति विण्णि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुप्फयन्ते तिण्णि तहा देवयत्तम्मि ॥ 5.1.1-2
3. मुहियण कव्वु सक्कमि करेमि, इच्छमि भुएहि सायर तरेमि ।
अह महकइरइउ पबंधु मइं कवणु चोज्जु जं किज्जइ ।
विद्वइ हीरेण महारयणे सुत्तेण वि पइसिज्जइ ॥ 1.3.7-10
4. जयति मुनिवृंदवदित-पद-युगल-विराजमान-सत्पद्मः ।
विबुध संघानुशासन विद्यानामाश्रयो वीरः ॥ 1.18.16-17
5. जम्बूसामिचरिउ । 4.19
6. बहुवयणकमलरसलंपडु, भमरु कुमार न जइ करमि ।
आएण समाणु विहाणए, तो तवचरणु हउं मि सरमि ॥ 9.16.11-12
7. भारहरणभूमि व सरहभीस, हरि-अज्जुण-नउल-सिहडिदीस ।
गुरु-आसत्थाम-कलिगचार, गयगज्जिर-ससर-महीससार ।
लंकानयरी व सरावणीय, चंदणहि चार कलहावणीय ।
सपलास-संकचण-अक्खथड्ढ, सविहीसण-कइ-कुलफलरसड्ढ ।
कंचाइणी व्व ठिय कलण काय, सछल विहारिणी मुक्कनाय ॥ 5.8.31-35

8. जम्बूसामिचरिउ, 9.12
- 9-10. वही, 4.14.2-4
11. जाणमि एक्कु जे विहि घडइ सयलु वि जगु सामणु ।
जे पुणु आयउनिम्मविउ को वि पयावइ अणु ॥ 4.14.9-10
12. इय जंबूसामिचरिय सिगारवीरे महाकव्वे महाकईदेवयत्तसुय वीरवीरइए बारह अणुपेहाउ
भावणाए विज्जुच्चरस्स सव्वट्टिसिद्धिगमणं नाम एयारसमो संघी सम्मतो ।
13. वही, 4.14
14. वही, 4.16, 4.20
15. अनेकान्त, वर्ष 9-किरण 10 में श्री रामसिंह तोमर का लेख 'अपभ्रंश का एक शृंगार
वीरकाव्य ।
16. जम्बूसामिचरिउ, 3.12
17. वही, 4.16
18. वही, 5.5
19. वही, 5.6.8



अशरणानुप्रेक्षा

मरणसमए जमदूर्याहि निज्जइ,
 असरणु जीउ केण रक्खिज्जइ ।
 जइ वि धरंति धरियधुर माणव,
 गरुड-फण्णिद-देव-दिहदाणव ।
 अक्क-मियंक-सुक्क-सक्कंदण,
 हरि-हर-बंभ वइरि-अक्कंदण ।
 पण्णारहं खेत्तेसु सुहंकर,
 कुलयर-चक्कवट्टि-तित्थंकर ।
 जइ पइसरइ गाढपविपंजरे,
 गिरिकंदरे सायरे नइ-निज्जभरे ।
 हरिणु जेम सीहेण दलिज्जइ,
 तेम जीउ काले कवलिज्जइ ।
 आउसु कम्मु निबद्धउ जेत्तउ,
 जीविज्जइ भुंजंतहं तेत्तउ ।
 तहो कम्महो थिरु खणु वि न थक्कइ,
 तिहुवणे रक्ख करेवि को सक्कइ ।

अर्थ—मरण के समय जब यमदूत जीव को ले जाते हैं उस समय उस अशरण जीव की रक्षा कौन कर सकता है! चाहे बड़े-बड़े संग्राम धुरंधर सुभट पुरुष भी काल से जीव की रक्षा के लिए उसे संरक्षण दें; चाहे गरुड, फणीन्द्र, देव या बलिष्ठ दानव; चाहे सूर्य, चन्द्र, शुक्र या शक्र; चाहे शत्रु को आक्रन्दन करानेवाले हरि और हर; चाहे पन्द्रह क्षेत्रों में कल्याणकारी कुलकर, चक्रवर्ती या तीर्थंकर उसे अपने संरक्षण में ले लें; चाहे वह सुदृढ़ वज्र-पंजर में प्रवेश कर जाय या गिरि-कंदराओं, सागर, नदी-निर्भर में तो भी जिस प्रकार हरिण सिंह के द्वारा मार डाला जाता है उसी प्रकार जीव काल द्वारा निगल लिया जाता है। वह उसकी आयु से अधिक एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। तीनों लोकों में कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता।

महाकवि वीर का समीक्षा सिद्धान्त

—डॉ. छोटेलाल शर्मा



महाकवि “वीर” का समय सन् 953 ई० और सन् 1028 ई० के बीच में आता है। उसने “जंबूसामिचरिउ” की रचना सन् 1019 ई० में पूरी की थी। वह महाकवि देवदत्त का पुत्र भी था और शिष्य भी। उसकी माता का नाम “संतुवा” था। उसे सरस्वती सिद्ध थी। वह संस्कृत का “अस्खलित स्वर” अथवा “अव्याध” कवि था —

अखलियसर सक्कयकइ कलिवि आएसिउ सुउ पियरें ।

पाययपबंधु वल्लहु जणहो विरइज्जउ कि इयरें ॥ 1.4.9.10

इस तरह स्वनामधन्य पिता और गुरु की आज्ञा से ही वह “प्राकृत बन्ध” में प्रवृत्त हुआ था। “देवदत्त” “विमलजसु” और “निब्वूढकस” थे। उन्होंने “वरांगचरिउ” का “बहुभावहि” “पद्धडियाबंधे” उद्धार किया था। वे यशोधन थे और विद्वानों में प्रख्यात कीर्ति, सही अर्थों में “कविगुण रसरंजिय विउसह”। उन्होंने अपने जीवनकाल में “सुद्धय वीरकह” का विस्तार किया था और शांतिनाथ का यशोगान —

इह अत्थि परमिजिणपयसरणु, गुलखेड विणिग्गउ सहचरणु ।
सिरिलाडवग्गु तंहि विमलजसु, ‘कइ देवयत्तु’ ‘निब्वूढकसु’ ।
बहुभावहि जें “वरंगचरिउ”, पद्धडियाबंधे उद्धरिउ ।
कविगुणरसरंजियविउसह, वितथारिय “सुद्धवीरकह” ।
चच्चरियबंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारजसु ।
नच्चिज्जइ जिणपय सेवयांहि, किउ रासउ अंबादेवयांहि । 1.4.1.6

‘वीर’ कवि अत्यंत विदग्ध एवं ‘स्वयंभू’, ‘पुष्पदंत’ तथा ‘देवदत्त’ की पंक्ति का है । वह अत्यंत विचक्षण और बहुश्रुत है । उसके अस्तित्व-व्यक्तित्व से एक बड़े अभाव की पूर्ति हुई है —

संते सर्यंभुएवे एक्को य कइत्ति बिण्णि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुपफयंते तिण्णि तहा देवयत्तंम्मि ।
दिवसेहोँ इह कवित्तं निलए निलयम्मि दूरमावण्णं ।
संपइ पुणो नियत्तं जाए कइवल्लहे वीरे ॥ 5.1.1-2

वह अत्यंत गुणी था, उसकी विद्वत्ता और उसका व्यवहार अत्यंत प्रशस्त और विशुद्ध थे —

अगुणा न मुणंति गुणं गुणिणो न सहंति परगुणे वट्ठुं ।
वल्लहगुणा वि गुणिणो विरला कई “वीर” सारिच्छा ॥ 4.1.1

शास्त्र सब उसे हस्तामलकवत् थे । उसने पढ़ा ही नहीं था, गुना भी था और गहराई में उतरकर समझा था । ‘निघंटु’ उसे कंठस्थ था और शब्दानुशासन उसकी अंगुलियों पर । व्याकरण पर उसका अप्रतिम अधिकार था । उसकी सूक्ष्मताएं एवं अगाधता से उसका पूर्ण परिचय था । छंद का अभ्यास भी विस्तृत था । संधि, समान, दोष आदि से वह पूर्णतया अवगत था और गद्य-पद्य बंध के कौशल में दक्ष —

सुकवित्तकरणि मणवावडेण, सामग्गिकवण किय मइं जडेण ।
परिकलिउ पईउ जि सद्धसत्थु, सुत्तु वि निप्पज्जइ जेत्यु वत्थु ।
वणगउ सच्छंडु निघंटु मुण्णिउ, गोरसवियाह पर तबकु मुण्णिउ ।
महकइविनिबद्धु न कव्वभेउ, रामायणम्मि पर मुण्णिउ सेउ ।
गुणु सुयणे विधि सुयनामकरणे, चारित्तु वित्तु पयबंधु वरणे । 1.3.1-5

‘वीर’ कवि अच्छी प्रकार जानता है कि स्वोपज्ञता की प्रतिष्ठा परम्परा के बीच ही सम्भव है । यह परम्परा से विच्छिन्न या कटी हुई वस्तु नहीं है । इसलिए वह प्राचीन साहित्य का अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक अध्ययन करता है, अपने पूर्ववर्ती कवियों को सम्मानपूर्वक स्मरण करता है । इस ग्रहणशील प्रज्ञा का दूसरा नाम विनय है । पुराने कवियों द्वारा निर्मित ये सेतु हैं जिन पर चलना सरल होता है, श्रम-स्वेद मुक्त हमारे कवि में यह विनय अत्यन्त गहरी है —

करजोडि विउसहो अणुसरमि, अरुभत्थण मज्जत्थहो करमि ।
अवसद्धु नियवि मा मणिधरउ, परिउंछिवि सुवंह पउ करउ । 1.2.6-7

कवि के परवर्ती, ‘तुलसी’ ने भी इस महत्त्व को बड़ी विनय के साथ समझा-बूझा है, सामाजिक श्रद्धा को उनके चरणों पर उंडेला है—बहाया है —

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति जाइ, तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ।
 व्यास आदिकवि पुंगव नाना, जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना ।
 चरन कमल बंदउं तिन्ह केरे, पुरवहुं सकल मनोरथ मेरे ।
 कलि के कविन्ह करउं परनामा, जिन्ह बरने रघुपति गुनग्रामा ।
 जे प्राकृत कवि परम सयाने, भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने ।
 भए जे अर्हाहि जो होइर्हाहि आगें, प्रनबउं सर्बाहि कपट सबत्यागे ।

रामचरित मानस 1.13-14

इसका तात्पर्य पुराने भण्डारों में सेंध लगाना नहीं है, शब्द या वर्ण बदलकर रचना पर अपना नाम चिपकाना नहीं है। यह तो दम्भ है, चोरी है क्योंकि नए उपनिबन्ध का मार्ग ही अवरोध हो जाता है—‘अभूतपूर्व दर्शन’ और ‘रमणीयवर्णन’ पाखंड और प्रदर्शन की गलियों में नहीं अंट पाते। राजशेखर ने इस तरह के शब्दहरण को दो रूपों में देखा है—परित्याज्य और अनुग्राह्य। यह पद, पाद, अर्थ, वृत्त और प्रबन्ध तक फैलकर जा पहुँचता है। कुछ आचार्यों ने एक पदहरण को दोषों की संज्ञा में सम्मिलित नहीं किया है। राजशेखर अर्थायामों की अवृद्धि में इसे दोष ही स्वीकार करते हैं—‘परप्रयुक्तयोः, शब्दार्थयोरूप निबन्धोहरणम्, तद्विधा परित्याज्यमनुग्राह्यं च। तयोः शब्दहरणमेव तावत्पंचधा-पदतः, अर्थतः, वृत्ततः, प्रबंधश्च। ‘तत्रैकपदहरणं न दोषाय’ इति आचार्याः। ‘अन्यत्र द्वयर्थपदात्।’ इति यायावरीयः।’ विषय और वृत्ति की नवीनता से भी यह दोष छूट जाता है—‘अप्रकान्तमिदमस्य संविधानकं प्रक्रान्तं मम, गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीक वचनोऽहम्।’² जहाँ ऐसे एक पद से ही विपरीत भाव संपादित हो जाए, वहाँ यह दोष नहीं रह जाता है—‘पाद एवान्यथात्वकरणकारणं न हरणम्, अपितु स्वीकरणम्’ इति आचार्याः।³ जहाँ भिन्न-भिन्न अर्थों में अन्वित होनेवाले पदों में एक पाद लेकर उससे एक वाक्य अन्वित कर दिया जाता है, वहाँ भी कवित्व की हानि नहीं समझी जाती है—‘भिन्नार्थानां तु पादानामेकेन पादेनान्वयनं कवित्वमेव।’⁴ प्राचीन कवियों की उक्तियाँ यदि अर्थान्तर में नियोजित हो जाती हैं तो पहचानी तो नहीं ही जातीं, साथ ही साथ स्वाद-जनक भी हो जाती हैं—‘उक्तयो ह्यर्थान्तर संक्रान्ता न प्रत्यभिज्ञायन्ते स्वदन्ते च, तदर्थास्तु हरणादपि हरणं स्युः’, इति यायावरीयः।⁵ हरण तो अनेक प्रकार का होता है लेकिन वाणी का हरण पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है, समय की गति उसे धुंधला नहीं पाती। “वीर” कवि इससे परिचित है और वाणी के हर प्रकार के हरण को हेय दृष्टि से देखता है —

कयग्रणवणपरियत्तणु वि पयडबंध संघार्णहि ।

आकहिज्जमाणु कइ चोर जणे लक्खिज्जइ बहुजार्णहि । 1.2.14-15

इसलिए वह बार-बार पुराने प्रबन्ध के उद्धार में हिचक रहा है और पुनरुक्तिदोष को रसयुक्त होने पर भी निर्दुष्ट समझने का साहस नहीं जुटा पा रहा है। “विशिष्ट” आकर द्वार रोक देते हैं और “तुच्छकहा” का भाव कंपकपी पैदा कर देता है —

चिर कइहि बहुलगंधुधुरिउ, संकिल्लहि जंबुसामिचरिउ ।

पडिहाइ न वित्थर अज्ज जणे, पडिभणइ वीर संकियउ मणे ।

भो भवबंधु किय तुच्छकहा, रंजेसइ केम विसिट्टसहा । 1.5.5-7

विस्तार और संक्षेप-समास-व्यास के भेद पर भी मन की गांठ ज्यों की त्यों बनी रहती है —

वित्थरसंखेवहु दिव्वभुणी, गरुयारउ अंतर वीर सणी ।
सरि-सर-निवाण-ठिउ बहु वि जलु सरसु न तिह मणिणज्जइ ।
थोवउ करयत्थु विमलु, जणेण अहिलासें जिह पिज्जइ । 1.5.9-11

गुणों की वैशेषिकता में भी उनका विश्वास नहीं दीख पड़ता है। यद्यपि दोष सापेक्ष संज्ञा है जो अन्यथा प्रकायता में अपने बल को खो देती है। आनन्दवर्धन ने तो यह कहा ही है कि अत्यंत चमत्कारजनक व्यंग्य रसादि पुरातन अर्थ को भी एक अपूर्व रमणीय बना देता है —

अतोह्यान्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता ।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवस्थापि ॥ ध्वन्यालोक 4.106

“अग्निभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवनवार्थलाभो भवति बंधच्छाया च महति सम्पद्यत इति ।”⁶ वाच्यार्थ विशेष के कारण भी अर्थ नवीन हो जाते हैं —

अवस्थादेशकालादि - विशेषरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः । ध्वन्यालोक 4.111

अतः औचित्य के अनुसार रस, भाव आदि से सम्बद्ध तथा देश, काल, अवस्था आदि के भेद से युक्त पदार्थ-रचना के अनुसरण करने पर भी नवीनता-अनन्तता का आधान होता है —

रसभावादि सम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादि मैदिनी ॥ ध्वन्यालोक 4.113

“रसादि रूप सारभूत व्यंग्य पदार्थ के होने पर पूर्ववर्णित पदार्थ का अनुसरण करने-वाला भी नवीन काव्य पदार्थ अधिक शोभित होता है, क्योंकि पुरातन रमणीय सौंदर्य से उल्लासित होनेवाला पदार्थ शरीर के समान परम सुषमा को प्राप्त होता है ।”⁷ कवि ‘वीर’ स्वयं भी अपने सरस काव्य से धरिणी को धन्य मानता है —

दैंत दरिद्धं परवसणदुम्मणं सरसकव्वसव्वस्सं ।
कइवीरसरिसपुरिसं धरणि धरंती कयत्थासि ॥ 6.1.1

यह सब प्रतिभा का खेल है जिसमें वस्तु-व्यक्ति, मति-रति, दर्शन-वर्णन आदि सभी बीज रूप में निहित हैं। प्रतिभा के बिना रमणीय अर्थ के अभिव्यंजन करनेवालो शब्दों का सन्निवेश भी असंभव है।⁸ इसको दूर की सूझ और “नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा” भी कहा जाता है। यह दो प्रकार की होती है-भावयित्री प्रतिभा और कारयित्री प्रतिभा। भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध रस से है और कारयित्री का रमणीय अभिव्यक्ति से। कवि स्वयं भी पाठक होता है, रसज्ञ होता है और स्वयं भी अपने कृतित्व का मूल्यांकन करता रहता है। इसका कवि के

मनोविज्ञान से विशेष सम्बन्ध आता है। इसलिए कवि में भी दोनों प्रकार की प्रतिभा की आवश्यकता है। भावयित्री प्रतिभा के अभाव में वह “शुष्को वृक्षो तिष्ठति अग्ने” और “नीरसतरुवरः विलसति पुरतः” का अन्तर ही भूल जायेगा, सहृदय और सुमनस् उसके संवाद से छूट जाएगा। काव्य तो कारयित्री प्रतिभा और भावयित्री प्रतिभा के बीच संवाद है। यह बात इलियट ने भी कही है कि कवि अपने कृतित्व का केवल कर्ता ही नहीं है, भोक्ता भी है, मूल्यांकनकर्ता भी। इस प्रकार एक ओर सृजनशीलता कर्ता है और दूसरी ओर आलोचक, दोनों का सामंजस्य सोने में सुगंध —

कव्वु जे कइ विरयइ एककुगुणु, अण्णेक्क पउंजिब्बइ निउणु ।
एक्कु जे पाहाणु हेमु जणइ, अण्णेक्कु परिक्खा तासु कुणइ ।
सो विरलु को वि जो उहयमइ, एवं विहो वि पुणु हवइ जइ । 1.2.8-10

तुम्हेहि वीरकव्वं सुयणोहि परिक्खिऊण घेत्तवं ।
कसतावच्छेयसुद्धं कणयं नेहेण मा किणह ।
चिरकव्वतुलातुलियं बुद्धीकसवट्टए कसेऊण ।
रसवित्तं पयच्छिन्नं गिण्हहह कव्वं सुवणं मे । 9.1.1-2

“वीर” कवि के परवर्ती तुलसी ने भी इसका व्याख्यान किया है —

मनि मानिक मुकुता छवि जैसी, अहिगिरि गज सोहन तैसी ।
नृप किरोट तरुनी तनु पाई, लहाँह सकल सोभा अधिकाई ।
तैसेँह सुकवि कवित बुध कहहीं, उपजाँह अनत अनत छवि लहहीं ।

रामचरित मानस 1.11

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू, वेद पुरान उदधि घन साधू ।
बरसाँह राम सुजस बरबारी, मधुर मनोहर मंगलकारी ।

रा. च. मा. 1.36

हृदयसिंधु मति सीप समाना, स्वाति सारदा कहाँह सुजाना ।
जो वरषइ बरबारि विचारु, होँह कवित मुकुतामन चारु ।

रा. च. मा. 1.11

गिरा अरथ जलबीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न ।

बंदउं सीताराम पद, जिन्हँह परम प्रिय खिन्न । रा. च. मा. 1.18

लोकोत्तर वर्णना प्रतिभा का ही रूप है। इसकी कोई अवधि नहीं होती है। यह निर्बाध उत्साह के परिस्फुरण से सुशोभित रहती है, स्वच्छन्द व्यापार के कारण अत्यधिक सौंदर्य-सम्पन्न होती है और विवक्षितार्थ की उद्भावना के कारण मनोहर।⁹ यह प्रबंध और प्रकरण वक्रता के अनेक भेदोपभेदों में द्रष्टव्य है। हर जगह प्राप्त होनेवाले सम्यक् प्रयोग से सुशोभित होनेवाले प्रबन्ध के अवयवों के प्रधान कार्य से जुड़ने का अनुग्राह्य-अनुग्राहक भाव, सहज-सुन्दर प्रतिभा से प्रकाशित होता हुआ वक्रता के चमत्कार को उत्पन्न करनेवाले किसी

दूरदर्शी कवि के वक्रता प्रतिपादन के लोकोत्तर सौंदर्य को प्रकट करता है।¹⁰ कभी-कभी प्रकरण में प्रवृद्ध प्रतिभा की परिपूर्णता से संपादित पूर्णतया नवीन ढंग से उल्लिखित रसों एवं अलंकारों से सुशोभित एक ही पदार्थ का स्वरूप बार-बार उपनिबद्ध होकर आश्चर्य को उत्पन्न करनेवाले, वक्रता की सृष्टि से उत्पन्न सौंदर्य को पुष्ट करता है।¹¹ रस के विपरिवर्तन और उसके निर्वाह से उत्पन्न सौंदर्य को प्रबन्ध वक्रता कहते हैं।¹² हमारे कवि के “वसंतक्रीड़ा” “हृस्ति उपसर्ग” और “संग्राम” सम्बन्धी नए प्रकरण भी इसी बांकेपन से युक्त हैं, मनोहर हैं —

आरिसकहाए अहियं महुकीला करि-नरिदपत्थाणं ।
संगामो वित्तमिणं जं विट्ठं तं खमंतु महु गुरणो ।
कव्वंगरससमिसद्धं चितंताणं कईण रुव्वं पि ।
वित्तमहवा न वित्तं सच्चरिए घडइ जुत्तमुत्तं जं । 8.1.1-2

अलंकार योजना भी इस लोकोत्तरता के विधान का लघु संस्करण है। इसका नाभिकीय “वक्रता”, “अतिशय”, “श्रौपम्य” आदि स्वीकार किया गया है। वाचिक कथन में एक विस्मयभाव जुड़ जाता है। कुन्तक ने अलंकारों को “वाक्यवक्रता” से समीकृत किया है। सब सृजन की सीमारेखाएँ हैं। वाचिकता तो प्रत्यक्ष होती है। एक वस्तु देखते हैं, उसे नाम देते हैं जिसमें नामिक और आख्यात-सभी समाहित हो जाते हैं। इनका सम्बन्ध संसूचन से होता है। इसमें भीतरी प्रभाव या भीतरी सृजनशीलता का परिस्पन्द नहीं रहता है। अतः अनेक प्रत्यक्ष अनुमान में समाहित होते हैं। यह एक संकल्पना या सामान्यीकरण का रूप ले लेता है। इसका स्वरूप भी परोक्ष होता है और इंद्रियादि से इसका कोई सम्पर्क नहीं रह जाता। इसके आगे का क्षेत्र है अनुभूति का जिसमें अनेक अनुमान समाहित होकर प्रत्यक्ष कारणों का विषय हो जाते हैं। यह अपरोक्ष होता है, क्योंकि बौद्धिकता के अनन्तर प्रत्यक्षकरण को गतिशील करता है। यहीं से व्यंजना का क्षेत्र प्रारम्भ होता है— “जिस काव्य में वाच्यार्थ या वाचक शब्द क्रमशः अपने स्वरूप या अपने अर्थ को दूसरे के प्रति समर्पण द्वारा अप्रधान बनाकर उस विलक्षण अत्यन्त रमणीय व्यंग्यार्थ को व्यंजना द्वारा व्यक्त करता है, उस काव्य-विशेष को विद्वानों ने ध्वनि नामक उत्तम काव्य कहा है।”

यथार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थो ।

व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥ ध्वन्यालोक 1.13

इसका सीधा-सीधा तात्पर्य है कि ध्वन्यार्थ या व्यंग्यार्थ एक ऐसा अर्थ है जिसे सब अपने-अपने स्तरानुसार अनुभव करते हैं, जिसमें बौद्धिकता की शुद्धता रहते हुए भी जो प्रत्यक्ष अनुभव में आता है। इसमें जोड़-तोड़ की बात नहीं है, विचार-प्रक्रिया की मंजिल या उपलब्धि की बात है। लक्षण में दो अर्थों का उपचार से आरोप रहता है, इसलिए उसकी प्रतीति भ्रष्टिति न होकर सीढ़ियों से होती है-पहले अर्थबोध की प्रतीति होती है, तब अर्थसंबंध की और आखिर में प्रचलन और प्रयोजन की। हमारे कवि ने इसे गहराई से पकड़ा है और अपने ग्रंथ में संकेत किए हैं और अपने मित्रों के उपदेश को तदनुकूल संदर्भों में ग्रहण किया है —

मा हंतु ते कइंवा गरुपबबंधेहि जाण निव्वुढा ।
 रसभावमुगिरंती विप्फुरइ न भारई भुवणे ।
 संति कई वाई विहुं वण्णुक्करिसे सुफुरियविण्णाणा ।
 रससिद्धिसंचियत्थो विरलो वाई कई एक्को ।
 विजयंतु जए कइणो जाणं वाणी अइट्टपुव्वत्थे ।
 उज्जोइयघरणियला साहय-वट्टिव्व निव्वडई ।
 जाणं समग्गसद्दोहज्जेदुउ रमइ मइफडक्कम्मि ।
 ताणं पि हु उवरिल्ला कस्स व बुद्धी परिप्फुरइ । 1.6.3-10

कवि की स्वयं की उक्ति है —

स कोऽप्यंतर्बद्धो वचनपरिपाटीं घटयतः ।
 कवेः कस्याप्यर्थः स्फुरति हृदि वाचामविषयः ।
 सरस्वत्यप्यर्थान् निगदनविधौ यस्य विषमा-
 मनात्मीयां चेष्टामनुभवति कष्टं च मनुते । 1.6.11-14

आगे कवि ने कुछ-कुछ गर्वोक्ति के रूप में काव्यरूप का उल्लेख किया है —

भरहालंकारसलक्षणाइं लक्षेपयाइं विरयंती ।
 वीरस्स वयणरंगे सरस्सइ जयउ नच्चंती । 3.1.3-4

कव्वस्स इमस्स मए विरइय-वण्णस्स रससमुहस्स ।
 गंतूण पारमहिंयं थावउ अत्थं महासंतो ।
 सालंकरं कव्वं काउं पडिउं व बुज्झिउं तह य ।
 अहिणेउं च पवोत्तुं वीरं मुत्तूण को तरइ । 8.1.7-10

‘तुलसी’ ने भी ‘मानस’ के रूपक में ‘उपमा’, ‘चौपाई’, ‘छंद’, ‘सोरठा’, ‘दोहा’, ‘अनुपम-अर्थ’, ‘सुभाव’, ‘सुभाषा’, ‘धुनि’, ‘अवरेव’, ‘काव्यगुण’, ‘काव्य जाति’, ‘नवरस’, और उकथा, ‘अनेक प्रसंगा’, आदि अनेक नाम काव्य-जगत् के लिये हैं। लेकिन यह गर्वोक्ति नहीं है, न ‘वीर’ कवि में और न ‘तुलसी’ में। जहां पुरानी थाती-विरासत पचती नहीं है, वहां षबराहट रहती है जैसे ‘सेनापति’ में है—

बानिसों सहित सुबरन मुंह रहै जहाँ
 धरत बहुत भांति अरथ समाज को ।
 संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामें
 राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को ।
 सुनौ महाजन ! चोरी होति चार चरन की
 ताते सेनापति कहै तजि उर लाज को ।
 लीजियो बचाय ज्यों चुरावे नाहि कोउ, सौंपी,
 वित्त की सी थाती मै कवित्तन के ब्याज को ।

जहां केवल सतही तौर पर एकाधिक आयाम जोड़ने के कौशल पर मुग्ध होने का व्यवसाय है, गर्वोवित्तर्या तो वहां ही सुनाई पड़ती हैं —

नाहीं नाहीं करे, थोरो मांगे सब दैन कहे,
मंगन को देखि पट देत बार-बार है ।
जिनके मिलत भली प्रापति की घटी होति,
सबा सुभ जन-मन भावै निरधार है ।
मांगी ह्वै रहत विलसत अरवनी के मध्य,
कन-कन जोरे, दान पाठपरवार है ।
सेनापति वचन की रचना विचारि देखो,
दाता और सुम दौऊकोन्हें इकसार है ।

यह कारीगरी की दर्प-दीप्ति है. अनुभूति सागर की वीचि संकुलता नहीं। “वीर” कवि की रचना में भी कारीगरी है लेकिन आन्तरिक गहराई की।

संश्लिष्ट भाषाओं में श्रेणी विभाजन से कम सरोकार होता है। उनमें भाषा के मौखिक अनुतान संबंधी रूप भी कम प्रभावशाली होते हैं। रूपिम अपने संबंधों में पूर्ण होते हैं। वियोगात्मक भाषा में सृजन की बलवती उत्प्रेरणा से पद-वाक्य के प्रकार्य से जुड़ जाते हैं और कभी वाक्य शब्द के प्रकार्य तक उतर आते हैं। इस प्रकार उच्च कक्षान्तर प्लुति और निम्न कक्षान्तर प्लुति के साथ क्रम परिवर्तन के संयोजन के रूप भी प्रमुख हो जाते हैं। सृजनात्मक भाषा में “चयन” का भी अपना महत्त्व होता है। मानक भाषा के घिसे-पिटे शब्द बोलीगत सद्य ऊष्मायुक्त शब्दों के लिए स्थान खाली कर देते हैं। अलंकार भाव के संपुट में एकत्र होकर बिम्ब बन जाते हैं और रंगों से बंधकर चित्र। कभी-कभी समूची एक ही शब्द में दीप्ति होने लगती है। इसके साथ विन्यासिम लोच रचना को कालातीत बनाए रखता है और अर्थ के अतिरिक्त आयाम अनुभूति की अकूल प्रकाश छवि का निर्माण कर देते हैं। भाषा विचार भी है और विचार भाषा। इसमें संस्कृति का नया-पुराना इतिहास समाहित रहता है और उसके सहारे हम आगे की टोह लेते हैं, इस अर्थ में विचार और भाव भाषा हैं और अपना अन्तर्विरोध छोड़कर रस, अभिव्यक्ति का उपकरण होने के कारण माध्यम भी। वीर कवि ने इसे समझा और उनमें श्रेणी विचलन, क्रम विचलन आदि द्वारा सृजनात्मक भाषा की शक्ति का उद्घाटन है।

चिरकइकव्वाभयमुहाण रुइभंगरसणाणं ।
सुयणाण मए वि कयं अल्लयकसरकउकव्वं ॥
अत्थाणुरुवभावो हियए पडिफुरइ जस्स वरकइणो ।
अत्थं फुडु गिरइ निरा-ललियक्खनेम्मिएहि तस्स नमो ॥
भावो तारो दूर अत्थस्स वि लडहभंडणं दूरे ।
पयडेवि कहाकहणे अण्णं चित्र का वि सा भंगो ॥ 7.1.1-6

यह ग्रंथ कवि द्वारा “बहुलत्थपसत्थपयं पवरमिणं चरिय मुद्धरियं” है।¹⁴ तुलसी भी “तो फुर होउ जो कहेंउ सब भाषाभनिति प्रभाउ”¹⁵ की कामना करते हैं।

अब प्रश्न है काव्य के प्रयोजन का ! आचार्यों ने अनेक प्रयोजन गिनाए हैं जो चारों पुरुषार्थों में समाविष्ट हो जाते हैं। हमारे कवि का काव्यप्रणयन का प्रयोजन प्रेमोत्पत्ति है। प्रेम अहंकार का विस्तार है जिससे कलह आदि मिट जाते हैं। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि हमारा कवि भाषा और भाव को अद्वैत मानता है। लोगों में प्रेम के भाव का विस्तार होगा तो अहिंसा की परणति होगी, द्वैत और कलह मिटेगा तथा नैतिकता को भय की आवश्यकता नहीं रहेगी।

विह्वेण रायनियडत्तणेण कलहेण जत्थ कव्वगुणो ।
कव्वस्स तत्थ कइणा वीरेण जलंजली दिण्णा ॥
जत्थ गुडाईण जहा महुरत्ते भिण्ण भिण्ण मुवलंभो ।
निव्वडइ तत्थ गरुवं रसंतरं वीरवाणीणं ॥ 10.1.1-4

फिर 'परगुण परिहार परंपरए, ओसरउ हयासु सो विपरए'¹⁶ का अन्वकाश नहीं रह जाता। "तुलसी" का भी संबंध ऐसे लोगों से आया है जिस पर उन्हें कहना पड़ा —

जे परभनिति सुनत हरषाही, ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं । मानस 1.8

और उनकी दृष्टि में काव्य का महत्त्व यह है कि —

कीरति भनिति भूति भलि सोई, सुरसरि सम सब कहं हित होई । मानस 1.14

इसमें ही विषय का महत्त्व भी आ गया है। आनंन्द आदि इसके विशेष पक्षधर रहे हैं। "वीर" कवि भी विषय का महत्त्व स्वीकार करते हैं। "प्रशास्तियां" और "फलश्रुतियां" इस और संकेत करते हैं।

"वीर" कवि के समीक्षा सिद्धान्त भाषा के सभी रूपों के साथ सार्थक हैं। संस्कृत काव्य-शास्त्र का उसने उतना ही सहारा लिया है जितना वियोगावस्था की ओर भुकी भाषाओं के लिए आवश्यक था। उसे उसने लादा नहीं है, पचाया और आत्मसात् कराया है जो आज भी उतना ही सार्थक है जितना तब रहा होगा।

1. काव्यमीमांसा, राजशेखर, चौ०वि०भ०वाराणसी, सन् 1982, पृ. 121,
2. वही, पृ. 124
3. वही, पृ. 126
4. वही, पृ. 128
5. वही, पृ. 132
6. ध्वन्यालोक, 4.109 की कारिका।
7. वही, 4.118 की कारिका।
8. बन्धच्छायऽप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशार्थ प्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते ।
ध्वन्यालोक, 4.110 की कारिका।

9. वक्रता-वक्रभावो-भवतीति संबंधः । कीदृशी-निःसीमा निरवधिः । यत्र यस्यां व्यवहर्तृणां तद्व्यापार-परिग्रहव्यग्राणां व्यावृत्तिः प्रवृत्तिः काप्यलौकिकी उन्मीलति उद्भिद्यते । किं विशिष्टा-निर्यन्त्रणोत्साह परिस्वन्दोपशोभिनी निरर्गलव्यवसायस्फुरितस्फारविच्छित्तिः । अतएव स्वाशयोल्लेखशालिनी निरूपमनिजहृदयोत्लासासितालंकृतिः ।
वक्रोक्ति जीवितम्, कुन्तक, चौ०वि०भ०, 1967 ई., पृ. 411 ।
10. प्रबन्धस्थैक देशानाम्: प्रकरणानाम् तदिदमुक्तम्भवति-“सार्वत्रिक सन्निवेश शोभिनां प्रबन्धावयवानां” प्रधानकार्यसंबन्धनिबन्धनानुग्राह्यग्राहकभावः स्वभावसुभगप्रतिभाप्रकाशयमानः कस्यचिद्विचक्षणस्य वक्रता चमत्कारिणः कवेरलौकिक वक्रतोलेखलावण्यं समुल्लासयति ।
वही, पृ. 418
11. वक्रोक्तिकाव्य जीवितम्, 4.7-8
12. वही, 4.16-17
13. रामचरित मानस, 1.37
14. जंबूसामिचरिउ, प्रशस्ति-3
15. रामचरित मानस, 1.15
16. जंबूसामिचरिउ, 1.2-5



जंबूसामिचरिउ का साहित्यिक मूल्यांकन

—डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'



मालवा देश के गुलखेड़ में जन्मे लाड-वर्ग गोत्र¹ के ग्यारहवीं सदी के प्रथम पाद के अपभ्रंश महाकवि वीर द्वारा विरचित महत्त्वपूर्ण चरितात्मक प्रबन्धकाव्य "जंबूसामिचरिउ" का रचनाकाल विक्रम संवत् 1076 है।² इस ग्रंथ के प्रणयन की प्रेरणा कवयिता वीर को धक्कड़वंशीय³ मधुसूदन के आत्मज तक्खड़ नामक श्रेष्ठि से प्राप्त हुई।⁴ कवि श्रीवीर को अनेक राजकार्य, धर्म, अर्थ, काम आदि गोष्ठियों में समय बिताते हुए इस चरित ग्रंथ को रचने में लगभग एक वर्ष लगा।⁵ इस ग्रंथ में वीर कवि ने अपने पूर्ववर्ती प्राकृत और अपभ्रंश के अनेक कवियों का स्मरण किया है।⁶ समकालीन कवियों में सोमदेव सूरि, कवि महासेन, कवि धनपाल, पुष्पदंत तथा हरिषेण का उल्लेख भी कविश्री ने अपनी इस काव्य-रचना में किया है। इस महाकाव्य में जैनधर्म के अंतिम केवली जंबूस्वामी के जीवन-चरित का ग्यारह सन्धियों में कविश्री द्वारा शब्द-गुंफन हुआ है। जंबूस्वामी का चरित जैन साहित्य में विख्यात कथानक है। संस्कृत और प्राकृत में इस कथानक को लेकर अनेक रचनाएँ रची जा चुकी हैं। गुणपाल कृत "जंबूचरियं" का इतिवृत्त ही प्रस्तुत "जंबूसामिचरिउ" महाकाव्य की मूल कथावस्तु का मुख्याधार है। इसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन, संशोधन करके कवि वीर ने अपनी इस काव्यकृति को चरितात्मक प्रेमाख्यान महाकाव्य का रूप दे दिया है। प्रस्तुत आलेख में "जंबूसामिचरिउ" का साहित्यिक मूल्यांकन करना हमारा अभिप्रेत है।

कथावस्तु

वीर कवि के इस महाकाव्य में ऐतिहासिक महापुरुष जंबूस्वामी के पूर्वभवों तथा उनके विवाहों और युद्धों का वर्णन अभिव्यञ्जित हुआ है। जंबूस्वामी महर्षि सुधर्मा से अपने

पूर्व जन्मों का वृत्तान्त सुनकर विरक्त हो घर तजना चाहते हैं। उनकी माता उन्हें समझाती है, उनकी पत्नियाँ वैराग्य-विरोधी कथाएँ सुनाती हैं लेकिन वह उन सबसे प्रभावित नहीं होते, वे काम के असाधारण विजेता जो थे। आखिर में वे सुधर्मास्वामी से दीक्षा लेते हैं और उनकी सभी पत्नियाँ आर्थिकाएँ हो जाती हैं। उनके लोकोत्तर जीवन की पावन भाँकी ही चरित्र-निष्ठा का एक महान् आदर्श रूप जगत् को प्रदान करती है। इनके पवित्रतम उपदेश को पाकर ही विद्युच्चर जैसा महान् चोर भी चौर-कर्मादि दुष्कर्मों का परित्याग कर अपने पाँच सौ योद्धाओं के साथ महान् तपस्वियों में अग्रणी तपस्वी हो जाता है और व्यंतरादिकृत महान् उपसर्गों को ससंघ साम्यभाव से सहकर सहिष्णुता का एक महान् आदर्श उपस्थित करता है। जंबूस्वामी अन्त में केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण पद प्राप्त करते हैं।

जंबूस्वामी के वर्तमान यश, प्रताप और वैभव के मूल में उनके पूर्वभवों का घटनाक्रम सम्बद्ध है। यह इस बात का प्रतीक है कि “मनुष्य” जो कुछ होता है वह अपनी अतीत की घटनाओं का फल होता है। धार्मिक अनुष्ठान से वह अपने भविष्य को संवार सकता है और वर्तमान को संयमित रखने में समर्थ होता है। इस प्रकार समूची कथा प्रतीक रूप में गृहीत है। राग और विराग का द्वन्द्व दिखाने के लिए सारी घटनाएँ और जन्मपरम्पराएँ संयोजित की गई हैं। व्यक्ति राग से ऊपर उठना चाहता है पर सांसारिक परिस्थितियाँ उसे ऊपर नहीं उठने देतीं। जंबूस्वामी का चरित्र इसी बात का निदर्शन है। सतत साधना के उपरान्त ही व्यक्ति अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। श्रोता-वक्ता शैली में कथा की आर्ष परम्परा वही सिद्ध-प्रसिद्ध राजा श्रेणिक और गौतम गणधर से आरम्भ होती है।

इस प्रकार “जंबूसामिचरिउ” का कथानक सुगठित है। इसमें समाविष्ट अन्तर्कथाएँ मुख्य कथावस्तु के विकास में सहायक बन पड़ी हैं। ऐतिहासिक और पौराणिक घटनाओं का भी कवि ने यथास्थान कल्पना के साथ सुन्दर सम्मिश्रण किया है। इस तरह ग्रंथ का कथा-भाग बहुत ही सुन्दर, सरस और मनोरंजक है और कवि ने काव्योचित सभी गुणों का ध्यान रखते हुए उसे पठनीय बनाने का सफल प्रयत्न किया है।

काव्यरूढ़ियाँ

कथा के प्रवाह में काव्यरूढ़ियों का निर्बाध निर्वाह हुआ है। डॉ. विमलप्रकाश जैन चार काव्यरूढ़ियों का उल्लेख करते हैं⁷—1. लोक प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, 2. नागदेवों से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, 3. तंत्र-मंत्र औषधि से सम्बद्ध रूढ़ियाँ, 4. आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़ियाँ। इस काव्य में आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक रूढ़ियों का सर्वाधिक प्रयोग परिलक्षित है। हमारी दृष्टि से महाकवि वीर के काव्य में कुल सात काव्यरूढ़ियाँ प्रयुक्त हुई हैं—1. मंगलाचरण, 2. विनयप्रदर्शन, 3. काव्यरचना का प्रयोजन, 4. सज्जन-दुर्जन वर्णन, 5. वंदना (प्रत्येक सन्धि के आरम्भ में स्तुति या वंदना), 6. श्रोता-वक्ता शैली, 7. अन्त में आत्मपरिचय। ये काव्यरूढ़ियाँ संदेशरासक, पद्मावत और रामचरितमानस आदि में भी कुछ परिवर्तन के साथ दृष्टिगत हैं।

चरित्रचित्रण

जंबूस्वामी इस महाकाव्य का नायक है। उसका चरित्र केन्द्रीय है। श्रेष्ठ पात्र उसी के परिप्रेक्ष्य में नियोजित हैं। जंबूस्वामी के अतिरिक्त भवदेव, भवदत्त, नागवसु, सागरदत्त, शिवकुमार, सुधर्मा, उपनायक विद्युच्चर, प्रतिनायक रत्नशेखर, जंबूस्वामी की चार वधुएँ तथा जंबू और शिवकुमार के माता-पिता के चरित्र प्रमुख हैं। इन प्रमुख पात्रों के साथ-साथ कतिपय पात्र इस प्रकार के हैं जिनके संदर्भ में विशेष कथ्य काव्यग्रंथ में नहीं हैं, यथा—राजा मृगांक व उसकी विलासवती कन्या तथा अणाढिय नामक यक्ष।

जंबूस्वामी के चरित्र को कविश्री ने जिस दिशा की ओर मोड़ना चाहा है उसी ओर वह मुड़ता गया है, जिस लक्ष्य पर उसे पहुंचाना चाहता है उसी पर वह अन्त में पहुंच जाता है। किन्तु कवि ने नायक के जीवन में किसी भी प्रकार की अरवाभाविकता चित्रित नहीं की है। राग और वैराग्य के मध्य जंबूस्वामी का जीवन विकसित होता चला गया है। जंबूस्वामी के चरित्र के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र के चरित्र का विकास कवि को इष्ट नहीं है।

इस प्रकार वीर कवि ने अपने पात्रों का चरित्र-चित्रण रचना के उत्कृष्ट भाग में किया है और धर्म सम्बन्धी चर्चाओं व तप-साधना आदि को जो कि सामान्य पाठकों की रुचि के विषय नहीं है, अल्प स्थान दिया है जिससे आद्योपान्त कहीं भी शुष्कता, नीरसता नहीं दिखाई देती।

वस्तुवर्णन

अपभ्रंश काव्यों के सदृश, प्रबंधकाव्योचित ग्राम, नगर, देश, अरण्य, सन्ध्या, प्रभात, मध्याह्न, रात्रि, चन्द्र, सूर्य, वन, पर्वत, नदी, सरोवर, उपवन, उद्यान एवं ऋतु आदि का स्वाभाविक, सजीव एवं मार्मिक चित्रण प्रस्तुत महाकाव्य में हुआ है। कवि वीर ने वर्णनों में प्राचीन संस्कृत कवियों की परम्परा का अनुकरण किया है। विन्ध्याटवी का वर्णन द्रष्टव्य है। यथा—

भारहरणभूमि व सरहभीस, हरि-अञ्जुण-नउल-सिहंडिदीस ।
गुरु-आसत्याम-कालिंगचार, गयगज्जिर-ससर-महीससार ।
लंकानयरी व सरावणीय, चंदर्णाहि चार कलहावणीय ।
सपलास-संकचण-अक्ख थड्ड, सविहीसण-कडकुलफलरसड्ड ।
कंचाङ्णी व्व ठिय कसणकाय, सद्दुलविहारिणी मुक्कनाय ॥ 5.8.31-35

कवि वीर ने वेश्याओं की विविध चेष्टाओं का, काम-व्यापारों का एवं वेश्या-जीवन का अत्यन्त यथार्थ चित्रण किया है, यथा—

वेसउ जत्थ विहूसियरूवउ, नरु मण्णंति विरूउ विरूवउ ।
खणदिट्ठो वि पुरिसु पिउ सिट्ठउ, पणयारूढु न जम्मे वि दिट्ठउ ।
नउलुम्भउ ताउ किर गणियउ, तो वि भुयंगदंतनहवणियउ ।
वम्महदीवियाउ अवितत्तउ, तो वि सिणेह संगपरिचत्तउ । 9.12.5-8

इस प्रकार कवि काव्य में यथार्थ मानवीय क्रियाकलापों का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इसमें नागरिकों की उद्यान-क्रीड़ा, वेश्याओं के काम-व्यापार, साधुओं के दर्शनों के लिए राजा का सपरिवार-ससैन्य गमन, सैन्य-पड़ाव या छावनी तथा सेना के द्वारा नगर-विध्वंस आदि के वर्णन भी उल्लेखनीय हैं।

प्रकृतिचित्रण

प्रस्तुत काव्यकृति में प्रकृति के विभिन्न अंगों का नाना रूपों में विस्तार से चित्रण मिलता है। प्रकृति का कहीं उपदेशिका, कहीं आलंबन, कहीं उद्दीपन, कहीं अलंकार-विधान आदि रूपों में अत्यंत मनोहारी निरूपण उपलब्ध होता है। प्रकृति का उपदेशिका रूप में चित्रण सैन्य प्रयाण के समय उड़ी हुई धूलि के शांत होने के वर्णन में परिलक्षित है, यथा —

अह सुहडकोवड्भंतियाहे, उच्छलइ व धूमुगार ताहे ।
 पयछडिडवि अण्पाणउ तडेइ, अकुलीणु अथस मत्थए चडेइ ।
 मज्जइ व महागयमयजलेण, नच्चइ च चमरचलमरुछलेण ।
 अंधारियाइं निम्मलथलाइं, संरुदच्चक्खु बेणिण वि बलाइं । 6.5.1-4

काव्यकृति की तीसरी-चौथी सन्धि में उद्यान और बसंत आदि के वर्णनों द्वारा कवि ने प्राकृतिक चित्र उपस्थित किए हैं। ये वर्णन शृंगार की पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। बसन्त वर्णन में शब्दयोजना भी बसंत के समान सरस और मधुर है —

दिणि दिणि रयणिमाणु जिह खिज्जइ, दूरपियाण निद् तिह खिज्जइ ।
 दिवि दिवि दिवसपहर जिह वड्ढइ, कामुयाण तिह रइरसु वड्ढइ ।
 दिवि दिवि जिह चूयउ अउरिज्जइ, माणिणिमाणहो तिह मउ रिज्जइ ।
 कलकोइलकलयलु जिह सुम्मइ, तिह पंथिय करंति घरे सुम्मइ ।

3.1.2.3-6

इस प्रकार वीर कवि द्वारा वर्णित नाना रूपों में प्रकृति-चित्रण उनके कला-कौशल का सुन्दर निदर्शन है।

रसयोजना

कवि वीर द्वारा इस प्रेमाख्यान महाकाव्य में सभी रसों की अभिव्यंजना हुई है। इनमें शृंगार, वीर और शांत ये तीन रस प्रधान हैं। यद्यपि कृतिकार ने अपनी कृति को “शृंगार-वीर महाकाव्य” कहा है तथापि इन दोनों रसों का पर्यवसान शांत रस में होता है।

इस महाकाव्य का आरम्भ बड़े भाई के द्वारा छोटे भाई भवदेव के अनिच्छापूर्वक दीक्षित कर लिए जाने से प्रियावियोगजन्य विप्रलम्भ शृंगार से होता है। भवदेव के प्रेम की प्रकर्षता और महत्ता इसमें है कि वह दिगम्बर मुनि-वेश में अग्रज की देख-रेख में मुनिधर्म

का पालन करते हुए बारह वर्षों की लम्बी अवधि अपनी पत्नी नागवसु के रूप-चित्तन में बिता देता है, अपनी प्रिया का निशिदिन ध्यान करता रहता है। बारह वर्ष की अवधि के पश्चात् गांव लौटना होता है और प्रिया द्वारा उद्बोध प्राप्त होता है। इस प्रकार काव्य की कथावस्तु विप्रलम्भ शृंगार से आरम्भ होकर शांत रस में समाविष्ट हो जाती है।

“जंबूसामिचरिउ” में शृंगार के वर्णनों की बहुलता है ! कविश्री इनके द्वारा सांसारिक विषयों की ओर प्रवृत्त करते हैं। शृंगारमूलक वीर रस के वर्णनों में वीर रस के प्रसंग भी मिलते हैं। इस प्रकार के प्रसंग अपभ्रंश काव्यों में प्रायः मिलते हैं। इन दोनों रसों का पर्यवसान शांत रस में होने से इस महाकाव्य को “शृंगार वीर काव्य” कहना कहाँ तक न्याय-संगत है ? काव्य में सांसारिक विषयों का त्याग कर वैराग्य भाव जागृत करने में ही उत्साह भाव दिखाई देता है अतएव इसे “शृंगार वीर काव्य” कहा जाता है ! लेकिन विचार कर देखें तो कृति को “शृंगारवैराग्यपरक” काव्यकृति कहना अधिक समीचीन लगता है। डॉ. रामसिंह तोमर भी इसी मत के हैं।¹⁸ पांचवी सन्धि के अन्तर्गत युद्ध के प्रसंग में वीभत्स और अद्भुत रस भी पाये जाते हैं जो वीर रस के सहायक हैं।

इस प्रकार इस काव्य में विविध रसों की मंदाकिनि प्रवहमान है जो अन्त में शांत रस के महार्णव में लीन हो गई है।

भाषासौष्ठव

“जंबूसामिचरिउ” की भाषा बहुत ही प्रांजल, सुबोध, सरस और गम्भीर अर्थ की प्रतिपादिका है और इसमें पुष्पदन्त आदि महाकवियों के काव्यग्रन्थों की भाषा के समान ही प्रौढ़ता और अर्थ-गौरव की छटा यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी है।¹⁹ वस्तुतः इस कृति की भाषा नागर अपभ्रंश है जिसमें स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल प्रभृति कवियों ने काव्यरचना की है।

कविश्री ने भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है उसमें वेग और प्रवाह परिलक्षित हैं, यथा—

को दिवायरगमणु पडिल्लई ।
जममहिससिगुक्खणइ कवणु गरुडमुहुहुरे पइसइ ।
को कूरगगहु निग्गहइ को जलंते सव्वासे पइसइ ।
को वा . सेसमहाफणेहि फणमणि मंड-हरेइ ।
को कप्पंतुट्ठंतु जलु जलनिहि भुएहि तरेइ । 5.5.1-5

भाषा में कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों का प्रयोग भी किया है। युद्ध के समय बजते हुए नाना वाद्यों की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है, यथा—

डक्कडमडक्क— डमडमियडमरुभंड,
घंटं— जयघंटं— टंकाररहसिहभंड ।
ढक्क त्रं त्रं हुडुक्कावलीनाइयं,
रंजगुंजंतं— संदिण्णसमघाइयं ।
थगगडुग—थगगडुग थगगडुगे सज्जियं,
किरिरिकिरि-तट्टकिरि-किरि किर वज्जियं । 5.6 9- 1

इसमें सुभाषितों और लोकोक्तियों का प्रयोग भी कविश्री द्वारा हुआ है —

कचचें पल्लट्ठइ को रयणु, पित्तलए हेमु विक्कइ कवणु । 2.18.5

अर्थात् कांच से रत्न को कौन बदलेगा ? पीतल से सोने को कौन बेचेगा ?

ओजपूरां उक्तियां भी द्रष्टव्य हैं यथा —

चंदहो करपंसणु को कुणइ । 5.4.12

अर्थात् चन्द्रमा की किरणों को कौन छू सकता है ?

जममहिसांसिगुक्खणइ कवणु । 5.5.2

अर्थात् यमराज के भैसे के सींगों को कौन उखाड़ सकता है ?

गरुडमुहकुहरे पइसइ । 5.5.2

अर्थात् गरुड के मुख-कुहर में कौन प्रवेश कर सकता है ?

कविश्री से सुभाषितों के प्रयोग में कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा। चाहे कविसमय के अनुसार सज्जन और दुर्जन की प्रकृति का उल्लेख हो या गुण-दोषों की चर्चा या फिर कवि और काव्य-विषयक स्थापनाएं सभी को कविश्री ने अपने काव्य में प्रयुक्त सुभाषितों के आग्राम में पिरोया है। इससे “जंबूसामिचरिउ” के महाकाव्यत्व में और भी अधिक निखार आ गया है।

गुण एवं रीतियुक्तता

महाकवि वीर ने अपनी रचना में माधुर्य, ओज एवं प्रसाद तीनों गुणों का प्रचुर समावेश किया है। इनमें माधुर्य¹⁰ का प्राधान्य है। इसके उपरान्त ओज¹¹ एवं प्रसाद¹² गुणों का। सम्पूर्ण रचना में सबसे अधिक प्रयोग वैदर्भी रीति का हुआ है। दो, तीन, आठ, नौ, दस और ग्यारह संधियां वैदर्भी शैली में रचित हैं। वैदर्भी के उपरान्त पांचाली का प्रयोग हुआ है। संधि छह और सात गौड़ी शैली में रचित हैं और लाटी का प्रयोग सबसे कम हुआ है जो अपनी अनिश्चितता की स्थिति के कारण स्वाभाविक है।¹³ इस प्रकार “जंबूसामिचरिउ” की रचना एक ही शैली में नहीं बल्कि चारों शैलियों में मिश्रितरूपा है।

अलंकारयोजना

कविश्री ने अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए नाना अलंकारों की योजना की है। शब्दालंकारों में अनुप्रास और यमक तथा अर्थालंकारों में उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपकों से काव्य-रचना आद्योपान्त विभूषित है। कहीं-कहीं श्लेष के प्रयोग से भाषा क्लिष्ट और अस्वाभाविक भी हो गई है। बसंत वर्णन में यमकालंकार दर्शनीय है —

वियसियकुसुमु जाउ अइमुत्तउ, घुम्मइ कामिणीयणु अइमुत्तउ ।

मंडु मंडु मलयानलु वाइय, महरसदु जणु वल्लइ वायइ ॥ 3.12

मिथुनों की उच्चान-क्रीड़ा में उत्प्रेक्षा अलंकार के अभिदर्शन होते हैं, यथा —

डोल्लहरि व लग्गी कंठहँ लग्गी वल्लहमुहचुंबणु करइ ।
थणरमणविडंबिणि का वि नियंबिणि निहुअणकेलिहि अणुहरइ ॥

4.16.11-12

इसके अतिरिक्त निदर्शना, दृष्टान्त, वक्रोक्ति, विभावना, विरोधाभास, व्यतिरेक, संदेह, भ्रांतिमान, सहोक्ति, अतिशयोक्ति, रूपकमाला अलंकारों का प्रयोग भावाभिव्यक्ति में सहायक बना है ।

बिम्बयोजना

“जंबूसामिचरिउ” में ऐसे अनेक वर्णन उपलब्ध हैं जिन्हें बिम्बयोजना के अन्तर्गत रखा जा सकता है । ग्रंथारम्भ में कवि ने राजा श्रेणिक का नखशिख वर्णन न करके उसकी शूरवीरता एवं प्रचंड प्रताप आदि के वर्णन द्वारा उसका एक भावात्मक बिम्ब खींचा है । बारह वर्षों की दीर्घ-अवधि में मेरे वियोग में नागवसु की अवस्था कैसी हो गई होगी, भवदेव की इस चिन्तना का बिम्बात्मक वर्णन प्रभावक बन पड़ा है ।¹⁴

जंबूस्वामी के युवावस्था में प्राप्त होने के साथ-साथ उनके रूप और गुणों का यशोगान हर गली-कूचे, घर और बाहर एवं चौक-चौरस्ते पर सर्वत्र गाया जाने लगा । उनके धवल-यश से सारा भुवन ऐसा धवलित हो उठा मानो पूर्ण चन्द्रमा के ज्योत्स्ना रस से लीप दिया गया हो । सारे हाथी ऐरावत के समान, सब नदियां गंगा के समान, सभी पर्वत हिमालय के समान सबके सब पक्षी हंसों के समान और सारी मणियां (श्वेत) मणियों के समान दिखलाई पड़ने लगीं, बालक की यशोवृद्धि का यह मनोहारी बिम्बात्मक वर्णन दर्शनीय है ।¹⁵

इस प्रकार वीर कवि ने बिम्बयोजना में भी अद्भुत सफलता प्राप्त की है ।

छंद-योजना

“जंबूसामिचरिउ” की रचना प्रमुख रूप से 16 मात्रिक अलिल्लह एवं पञ्भटिका छंदों में हुई है । इसके उपरान्त 15 मात्रिक पारणक अथवा बिसिलोथ छंद का स्थान है । इसके साथ बीच-बीच में घत्ता, दुवई, दोहा, गाथा, वस्तु, खंडयं, रत्नमालिका, मणिशेखर आदि छंदों का, सग्विणी, शिखरिणी, भुजंगप्रयात आदि वर्ण-वृत्तों का प्रयोग परिलक्षित है । इस प्रकार ग्रंथ में कृत्तिकार ने मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है किन्तु अधिकता मात्रिक छंदों की है ।

मूल्यांकन

उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह सिद्ध होता है कि “जंबूसामिचरिउ” सही अर्थों में रीतिबद्ध रचना है । रीति अर्थात् साहित्यशास्त्र के सिद्धान्त विषयक सभी आदर्शों का इसमें परिपालन हुआ है । महाकाव्य के सम्पूर्ण तत्त्वों का यथोचित समावेश कर “जंबूसामिचरिउ” को महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करते हुए अपनी मौलिक सूझ-बूझ का परिचय देने में कविश्री

पूर्णरूप से सकल हुए हैं। अपभ्रंश प्रबन्धकाव्यों में वीर कवि का यह चरितात्मक महाकाव्य "जंबूसामिचरिउ" अपना महनीय स्थान रखता है। इस महाकाव्य की प्रभावना संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के परवर्ती कवियों नयनंदि, रङ्घू, ब्रह्म जिनदास और राजमल्ल पर पर्याप्त रूप से परिलक्षित है।

1. भारतीय साहित्य कोष, सम्पा.—डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठांक 1179 ।
2. विक्रम णिव कालाउ छाहत्तर दस सएसु वरिसाणं ।
माहम्मि सुद्ध पक्खे दसम्मी दिवसम्मि संतम्मि ॥
—जंबूसामिचरिउ, अन्तिम प्रशस्ति
3. यह वंश ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं शताब्दियों में खूब प्रसिद्ध रहा है। अपभ्रंश कवि धनपाल और "धर्मपरीक्षा" के प्रणेता हरिषेण इसी वंश के थे।
4. जंबूसामिचरिउ, सम्पा.—डॉ. विमलप्रकाश जैन, पृष्ठ 12 ।
5. जंबूसामिचरिउ, प्रशस्ति गाथा 5 ।
6. अपभ्रंश भाषा का "जंबूसामिचरित और महाकवि वीर"—पं. परमानन्द जैन शास्त्री, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ पृष्ठ, 443 ।
7. जंबूसामिचरिउ. सम्पा.—डॉ. विमलप्रकाश जैन, पृष्ठ 79-80 ।
8. अपभ्रंश का एक शृंगार वीर काव्य, श्री रामसिंह तोमर, अनेकांत, वर्ष 9, किरण 10 ।
9. अपभ्रंश भाषा का जंबूसामिचरित और महाकवि वीर—पं. परमानन्द जैन शास्त्री, प्रेमी अभिनंदन ग्रंथ, पृष्ठ 440 ।
10. जंबूसामिचरिउ, 2.14, 4.17-18
11. जंबूसामिचरिउ, 4.21, 5.14, 6.11
12. जंबूसामिचरिउ, 4.13, 9.1
13. जंबूसामिचरिउ, सम्पा.—डॉ. विमलप्रकाश जैन, पृष्ठ 112 ।
14. जंबूसामिचरिउ, 2.15, 3.4
15. जंबूसामिचरिउ, 4.10, 3-7

जंबूसामिचरिउ—छवि भली संवारी वीर कवि

—श्री नेमीचंद पटोरिया



शायद पाँच-छः वर्ष बीते होंगे, मैं सकुटुम्ब श्री मथुरा चौरासी आदि की वंदना को गया था। श्री मथुरा चौरासी के जिनमन्दिरों में तीर्थकर अजितनाथ की भव्य प्रतिमा के दर्शन कर हृदय को बड़ी शांति मिली। पास ही किन्हीं के पूज्य चरण-चिह्नों को देखकर मेरे हृदय की जिज्ञासा चुप न रह सकी। पास में खड़े शायद वहीं के पण्डितजी से पूज्य चरण-चिह्नों के सम्बन्ध में मैं पूछ ही बैठा। पाया कि वे न केवल पण्डित ही हैं, अपितु गम्भीर विद्वान् भी हैं। उन्होंने बताया कि वे चरण-चिह्न अंतिम केवली श्री १००८ भगवान् जंबूस्वामी के हैं।

जैसे चंद्र को देख समुद्र में ज्वार उठता है, उसी प्रकार मेरी जिज्ञासा उन चरण-चिह्नों के बारे में जानने को उमड़ पड़ी। मैंने उन विद्वान् पण्डितजी से अपने हृदय का हाल स्पष्ट कहा, तो उन्होंने पास ही एक चबूतरे पर बैठने का इशारा किया। वहीं पूज्य केवली भगवान् श्री जंबूस्वामी के जीवन के सम्बन्ध में जो वार्ता हुई उसे मैं सम-जिज्ञासु बंधुओं के हितार्थ लिखने का लोभ संवरण नहीं कर सका हूँ। हम लोगों की वार्ता प्रश्नोत्तर रूप में निम्न प्रकार हुई —

प्रश्न— क्या श्री जंबूस्वामी के सम्बन्ध में कोई उनका जीवनचरित्र उपलब्ध है? मुझे उनके सम्बन्ध में जानने की उत्कण्ठा जागृत हुई है।

उत्तर— पण्डितजी बोले कि श्री पूज्य जंबूस्वामी के अनेकों जीवन-चरित्र लिखे गये हैं, विभिन्न भाषाओं में व विविध काल और विविध स्थानों में सौ से अधिक ग्रंथ उनके जीवन-

चरित्र से सम्बन्धित प्राप्य हैं।¹ मैंने भी कुछ देखे हैं पर मुझे उन सब में वीर-कवि का 'जंबूसामिचरित्र' सबसे उत्तम लगा है। अनेक विद्वानों की भी यही राय है। वह अपभ्रंश भाषा का ग्रंथ है। मैंने ध्यान से उसे पढ़ा है। बड़ा सुन्दर काव्य है।

प्रश्न— पण्डितजी ! मैंने भी इस काव्य का नाम सुना है। इसके रचयिता श्री वीर कवि के सम्बन्ध में आप कुछ प्रकाश डालिये।

उनका काल, निवास-स्थान, जाति, धर्म आदि जानने की जिज्ञासा है।

उत्तर— तो भाई ! सुन लीजिये। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले की बात है। भारत के मध्य भाग मालवा प्रान्त में गुलखेड़ नामका एक नगर था। वहाँ एक सद्गृहस्थ रहते थे, उनका नाम था श्री देवदत्त। उनके पास काफी कृषि-भूमि थी। वे स्वयं धर्मात्मा तथा विद्याव्यसनी थे अतः उनका अधिक समय धर्मशास्त्र-पठन व काव्य-रचना में बीतता था। वे उस समय के गुलखेड़ और आस-पास के क्षेत्रों में शास्त्रज्ञ व कवि गिने जाते थे। इन कवि देवदत्त के पुत्र कवि वीर हुए। उनकी माता का नाम संतुवा था। कवि के तीन भाई थे। 'सहिल्ल', 'लक्षणांक' तथा 'जसई'। इन तीनों भाइयों का ध्यान कृषि और व्यापार में लगा। वास्तव में वे लक्ष्मी के पुजारी बने और अपने अग्रज वीर को सरस्वती-अर्चना में लगे रहने दिया।

वीर कवि बड़े रसिक और आकर्षक व्यक्तित्ववाले थे इसलिए उनसे समय-समय पर चार विवाह किये। चारों धर्म-पत्नियाँ हिल-मिलकर रहती थीं। उनके नाम हैं—'जिनमती', 'पद्मावती', 'लीलावती' और सबसे छोटी थी 'जयादेवी'। इस तरह इनके भरे-पूरे घर में गार्हस्थ्य स्नेह का रंग साकार हो बरसता था जो कविता का उद्रेक हो सकता था। घर में ही कवि ने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं का गहरा अध्ययन किया। ये लाट-वर्ग वंश के थे। वैश्यों का यह वंश गुजरात और सागवाड़े के पास अधिक है। इस वंश में अनेक आचार्य, मुनि व लेखक हो गये हैं ये दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी रहे हैं।²

प्रश्न— पण्डितजी ! क्या उक्त विद्वान् देवदत्तजी ने भी कोई ग्रंथ लिखे हैं ?

उत्तर— हां, विद्वान् कवि देवदत्त के लिखे चार ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। पहला ग्रंथ 'वरांग-चरित्र' है जो पद्धडिया-छंद में लिखा गया है। दूसरा ग्रंथ है 'शांतिनाथ रास जो चच्चरिया शैली में लिखा गया है। तीसरा ग्रंथ है 'सुद्धवीरकथा' यह सरस काव्य शैली में लिखा गया है और चौथा है 'अंबादेवी रास' जो नृत्याभिनय के योग्य है और जो कवि के तथा उनके पुत्र वीर कवि के काल में भी मंच पर अभिनीत किया गया था।³

प्रश्न— इससे स्पष्ट विदित होता है कि श्री वीर कवि को उनके घर में ही उनके पिता के कवि-गुण प्राप्त हो गये थे। ठीक है न ?

उत्तर— आप ठीक कहते हैं कि कवि के पिता देवदत्त ने अपने पुत्र का मार्ग-दर्शन कर उन्हें साहित्य में अपना उत्तराधिकारी बनाया। फिर वीर कवि धीरे-धीरे उत्साह व लगन के साथ साहित्यरत्नाकर में गहरे उतरते गये और बहुमूल्य काव्यरत्न ले ही आये।

प्रश्न— क्या कवि देवदत्त के कोई ग्रंथ देखने को मिल सकते हैं ?

उत्तर— नहीं भाई ? कवि वीर के जीवन-चरित्र में इन ग्रंथों का स्पष्ट वर्णन है, पर ताड़-पत्र पर लिखे ये ग्रंथ अब अनुपलब्ध हैं। शायद किसी शास्त्र-भण्डार में मिल जायें, नहीं तो समझना चाहिए कि वे ग्रंथ नष्ट हो गये हैं। हजारों अमूल्य ग्रंथ इसी तरह असुरक्षा, दीमक, सीलन आदि से नष्ट हो चुके हैं। शायद उन ग्रंथों की भी वही गति हुई हो।

प्रश्न— इस महाकाव्य को लिखाने के लिए कोई प्रेरक भी थे क्या ?

उत्तर— वीर कवि की गहन साहित्य-रुचि और काव्य-प्रतिभा को देख मालव देश के सिन्धु-वर्णा नगरी में बसनेवाले सेठ तक्खड़ की भावना हुई कि कवि से 'जंबूसामिचरिउ' लिखवाया जाय। सेठ तक्खड़ कवि के पिता देवदत्त के मित्र भी थे। सेठ तक्खड़ की प्रेरणा थी कि प्राचीन ग्रंथों को खोजकर अपभ्रंश भाषा में वह ग्रंथ लिखा जाए क्योंकि उस समय अपभ्रंश जनभाषा थी और उसमें ऐसा कोई ग्रंथ नहीं था। कवि ने संकोच किया तब सेठ तक्खड़ के अनुज भरत ने बहुत जोर लगाकर कवि को राजी कर लिया और इस ग्रंथ का तक्खड़ की हवेली में लिखा जाना आरम्भ हो गया और वहीं समाप्त भी किया गया।⁴

प्रश्न— साथ में यह भी बताइए कि यह ग्रंथ कब आरम्भ हुआ और कब समाप्त हुआ ?

उत्तर— यह ग्रंथ माघ मास सं. 1075 में आरम्भ हुआ और माघ शुक्ला दशमी वि.सं. 1076 यानी पूरे एक वर्ष में पूर्ण हुआ। यह स्पष्ट उल्लेख 'जंबूसामिचरिउ' की प्रशस्ति में है।⁵

प्रश्न— वीर कवि ने अपने पूर्ववर्ती किन कवियों का साभार स्मरण किया है ?

उत्तर— वीर कवि ने कवि स्वयंभू, कवि पुष्पदंत और अपने पिता देवदत्त का ही स्मरण किया है (5.1)—“स्वयंभूदेव के होने पर एक ही कवि था, पुष्पदंत के होने पर दो हो गये और देवदत्त के होने पर तीन। यहां बहुत दिनों से काव्य घर-घर से दूर चला गया था, अब कविवल्लभ वीर के होने पर पुनः लौट आया।” कवि ने (संघि 1.2.12 में) लिखा “ऐसा कोई जो श्रुति-सुखकर (कर्णमधुर) स्वर से काव्य पढ़े और उससे उत्पन्न मनोगत भावों को अभिव्यक्त करे तो वह (महाकवि) स्वयंभू को छोड़कर अन्य कौन हो सकता है।” इन तीन कवियों के सिवाय उसने किसी अन्य का साभार नहीं माना है ?”

प्रश्न— जंबूसामिचरिउ कथा पर किन ग्रंथों व कवियों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है ?

उत्तर— 'जंबूसामिचरिउ' कथा की पूर्व परम्परा की दृष्टि से प्रथमतः वसुदेव हिण्डो, द्वितीय गुणभद्र कृत उत्तरपुराण, तृतीय समराइच्चकहा, एवं चतुर्थ जयसिंह सूरि कृत धर्मोपदेश-माला विवरण पर विचार करने के उपरान्त जिस ग्रंथ पर हमारी दृष्टि

अनायास आकृष्ट हो जाती है वह है प्राकृत 'जंबूचरियं'। कवि गुणपाल की यह एक उत्कृष्ट रचना है। डॉ. नेमीचंद शास्त्री ने "जंबूचरियं" के रचयिता गुणपाल को अपने ग्रंथ 'प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन' में विक्रम की 9वीं शती के लगभग का माना है। विद्वान् इन ग्रंथों का प्रभाव जंबूसामिचरिउ में स्पष्ट देखते हैं।⁶

प्रश्न— पण्डितजी ! साथ ही बताइये कि परवर्ती किन कवियों ने वीर कवि का आभार माना है ?

उत्तर— परवर्ती निम्नलिखित कवि हैं जिन्होंने वीर कवि का सादर आभार माना है और उनकी रचनाओं में उनका स्पष्ट प्रभाव दीखता है —

1. सं. 1100 में होनेवाले मुनि नयनंदि जिसने "सुदंसणचरिउ" लिखा है उस पर "जंबूचरिउ" का अत्यन्त गम्भीर और प्रचुर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।
2. 1520 में श्री ब्रह्म जिनदास ने संस्कृत में "जंबूसामिचरिउ" लिखा है। सच पूछा जाए तो वह अधिकांशतः वीर कवि की रचना का संस्कृत रूपान्तर मात्र ही है।
3. 15वीं शती में प्रसिद्ध कवि रङ्घू हो गये हैं। उनसे अपनी रचनाओं में वीर कवि का नाम साभार उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त और कुछ सामान्य रचनाकार भी हैं।
4. सं. 1632 में रचित पं० राजमलजी द्वारा "जंबूसामिचरिउ" भी वीर कवि की रचना का संस्कृत रूपान्तर ही है।

प्रश्न— वीर कवि की रचना "जंबूसामिचरिउ" की कथा भी कह दीजिये।

उत्तर— ठीक है, संक्षेप में कहता हूँ, सुनो —

मगध देश में वर्धमान नामक ब्राह्मणों का अग्रहार ग्राम है। वहाँ सोमशर्म नामक वेदज्ञ ब्राह्मण रहता था, उसकी पतिपरायणा पत्नी थी सोमशर्मा। उनके दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र का नाम था भवदत्त और छोटे पुत्र का नाम था भवदेव। दोनों शास्त्रज्ञ और सदाचारी थे। कुछ काल पश्चात् सोमशर्म कठिन व्यथि से ग्रस्त हो गया और अपना मरणकाल जान श्रीविष्णु का नाम जपते-जपते वह जीवित ही चिता में प्रविष्ट हो मृत्यु-धर्म को प्राप्त हुआ। उसकी पतिपरायणा स्त्री सोमशर्मा भी पति की चिता में जलकर पति अनुगामिनी हो गई। उस समय भवदत्त था 18 वर्ष का और उसका छोटा भाई भवदेव था 12 वर्ष का।

कुछ काल बाद सुधर्म मुनि के उपदेश से बड़ा पुत्र भवदत्त साधु हो गया, गृहस्थी संभालनी पड़ी छोटे पुत्र भवदेव को। सुधर्म मुनि का संघ उसी ग्राम में आया। मुनि भवदत्त अपने पूर्व घर की ओर गया। वहाँ उसे मालूम हुआ कि उसके छोटे भाई भवदेव का विवाह हो रहा है। भवदेव अपने भाई भवदत्त का समाचार मिलते ही नवलवधू को अर्धमंडित ही छोड़कर भाई को प्रणाम करने आया। भवदत्त संघ की ओर चला तो अनेक जन व भवदेव भी उनके साथ चले। शेष सब धीरे-धीरे वापिस चले गये, किन्तु भवदत्त ने भवदेव को जाने के लिए नहीं कहा, और जब वह संघ में पहुँचा तो उसे आचार्य ने मुनिदीक्षा दे दी। वहाँ भी

भवदेव संकोचवश मौन रहा। संघ 12 वर्ष यहाँ वहाँ गया। भवदेव ऊपर से तो मुनिमार्ग पालता था लेकिन अंदर से यानी हृदय में गृहस्थी और कामवासना के स्वप्न ही संजोता था। वह तन से साधु, किन्तु मन में कामवासना-स्वादु था।

12 वर्ष बाद वह मुनिसंघ अग्रहार ग्राम (भवदेव के ग्राम) के निकट आया तो भवदेव किसी बहाने संघ से चुपचाप निकलकर अपने घर की ओर बढ़ा। ग्राम में परिवर्तन भी हुआ। ग्राम के बाहर एक चैत्यालय था, वहीं वह दर्शन करने गया। वहीं उसकी स्त्री नागवसु से भेंट हो गई। नागवसु पति को साधु-मार्ग में जानकर स्वयं साधुमार्ग में, जप-तप में लीन हो गयी थी अतः शरीर से कृश थी। जब नागवसु को मालूम हुआ कि उसका पति भवदेव धर्म-मार्ग छोड़कर पुनः वासना-मार्ग में आना चाहता है तो उसने अपना तपकृश शरीर उसे बताया जो अब कामवासना को छोड़ चुका था। उसने उल्टी किये अन्न को पुनः चाटने की बात कहकर भवदेव को पुनः धर्म-मार्ग में दृढ़ किया। भवदेव पुनः गुरु के पास गये और सच्चे मन से दृढ़तापूर्वक मुनि-मार्ग में आरूढ हुए। दोनों भाई आयु पूर्ण कर तीसरे स्वर्ग में देव हुए।

फिर देवायु पूर्ण होने पर भवदत्त का जीव विदेह में पुंडरीकिणी नामक नगरी के राजा वज्रदंत और रानी यशोधना के यहाँ सागरचंद्र नामक राजपुत्र हुआ और उसी देश में वीताशोक नामक नगरी में भवदेव का जीव वहाँ के राजा महापद्म और रानी वनमाला का राजपुत्र शिवकुमार हुआ। एक मुनिसंघ आया और पूर्व भव जानकर सागरचंद्र मुनि-मार्ग में प्रविष्ट हुआ। साथ ही वह भवदेव के जीव शिवकुमार को भी उसी ओर ले जाना चाहता था पर शिवकुमार के पिता व माता ने आज्ञा न दी व उसका राज-कन्याओं के साथ परिणय भी करा दिया। शिवकुमार ने महलों में ही रहकर तापसी जीवन बिताया। वह आमोद-प्रमोद छोड़कर धर्म-ध्यान में अधिक समय लगाता था और भोजन में केवल कांजी का शुद्ध आहार लेता था। अन्त में संन्यासपूर्वक मरण हुआ, और वह विद्युन्माली नाम का तेजस्वी देव हुआ। भवदत्त का जीव भी कालान्तर में देव हुआ। विद्युन्माली देव (भवदेव का जीव) आयु पूरी कर राजगृही नगरी के निवासी सेठ अरहदास और सेठानी जिनमती के पुत्र रूप में हुआ। बालक के गर्भ में आने के पहले सेठानी जिनमती ने सोते समय रात्रि के अंतिम पहर में निम्न पांच मांगलिक स्वप्न देखे—

1. अति सुगंधित जंबू-फलों का समूह, 2. तेज धूमरहित अग्नि, 3. फल व फलों से लदा सुगंधित शालि क्षेत्र, 4. खग-कलरव युक्त निर्मल सरोवर, 5. विशाल सागर।

समय पर सेठ अरहदास व सेठानी जिनमती ने पुत्र जन्म पर अनेक धार्मिक उत्सव व दानपुण्य भी किए। बालक का नाम जंबूकुमार रखा। दोज के चांद की तरह जंबूकुमार बढ़ने लगे। साथ ही अनेक विद्याओं में भी पारंगत हो गये। जंबूकुमार ने जब यौवन की दहलीज पर पैर रखा था तब उनके मनमोहक रूप व असाधारण गुणों की चर्चा सारे नगर में फैल चुकी थी। अतः उनके विवाह के प्रस्ताव अच्छे-अच्छे घरों से आये। सेठ अरहदास के कुछ घनिष्ठ मित्रों की कन्याओं के भी प्रस्ताव आये। खेल-खेल में सेठ अरहदास अपने चार मित्रों से जंबूकुमार के विवाह के लिए वचन से ही वचनबद्ध हो गये थे, अतः उन चार मित्रों की कन्याओं से जंबूकुमार के परिणय की बात उठी। माता-पिता ने अपना वचन निर्वाह करने

हेतु जंबूकुमार का परिणय इन चार कन्याओं के साथ तय किया और इन पांचों घरों में वैवाहिक उत्सव होने लगे ।

इतने में बसंत आ पहुंचा । राज्य परम्परा के अनुसार राजा व प्रजा उपवन में व जलक्रीड़ा में उन्मुक्त भाव से कामिनियों से हास-परिहास किया करते थे । जंबूकुमार ने भी किया व अनेकों को मोहित किया । सब बसंतोत्सव मनाने में मग्न थे तभी एक समाचार मिला कि राजा का 'विषम-संग्रामशूर' नामक पट्ट-हाथी बन्धन तुड़ाकर इसी और आ रहा है । वह जहां जाता है वहीं विनाश का भयावह दृश्य उपस्थित करता है । जब कोई उस मस्त हाथी को रोक नहीं सका तो जंबूकुमार आगे बढ़े और चतुराई से उसकी पीठ पर बैठकर अंकुश से उसे वश में किया । राजा बहुत प्रसन्न हुए और जंबूकुमार का सम्मान किया व राजसभा का सभासद भी उन्हें बनाया ।

एक दिन राज-सभा में गगनगति नाम का एक विद्याधर आया और राजा को प्रणाम कर बोला—महाराज ! मेरी भाञ्जी विलासवती अपूर्व सुंदरी है । हम लोग उसका विवाह आप से करना चाहते हैं, किन्तु हंसद्वीप के रत्नचूल नामक विद्याधर ने बलपूर्वक कन्या को ले जाने हेतु मेरे बहनोई की राजधानी केरल को अपनी सेना से घेर लिया है । अब आप हमारा उद्धार कीजिए । ऐसा सुनकर जंबूकुमार राजा की अनुज्ञा लेकर विद्याधर गगनगति के विमान में बैठकर अकेले केरल की ओर रवाना हुआ । राजा ने अपनी सेना को भी केरल की ओर रवाना होने का आदेश दिया । जंबूकुमार राजदूत का वेश धर विद्याधर रत्नचूल से मिला व उसे भला-बुरा कहा, पर रत्नचूल तो अपनी जिद पर अड़ा था । अंत में कुछ झगड़ा होने पर सबने यह फैसला किया कि राजा रत्नचूल और जंबूकुमार दोनों द्वन्द्व-युद्ध करें, निरीह सेना का विध्वंस न होने दें । जो जीते, वही विजयी माना जाय । द्वन्द्व-युद्ध हुआ और जंबूकुमार ने रत्नचूल को परास्त कर बांध लिया । अंत में उसे केरल ले जाकर क्षमा-दान दिया व राजकुमारी विलासवती का विवाह पूर्व निर्धारित राजगृही के राजा से करा दिया । राजगृही के उपवन में सुधर्म स्वामी 500 मुनियों के साथ विराजमान थे । राजा व प्रजा सबने सभक्ति वंदना की, जंबूकुमार ने भी साष्टांग वंदना की ।

पूज्य सुधर्म स्वामी से विदित हुआ कि जंबूकुमार भवदेव का जीव है, और सुधर्म स्वामी स्वयं उसके भाई भवदत्त के जीव हैं । भवदेव विद्युन्माली देव होने के पश्चात् जंबूकुमार हुए, और भवदत्त स्वर्ग से च्युत होने के बाद इसी मगध देश में संवाहक नामक नगर में सुप्रतिष्ठित राजा व रुक्मणी रानी के सुधर्म नाम के राजपुत्र हुए । एक दिन सुप्रतिष्ठित राजा सपरिवार महावीर स्वामी के समवशरण में गये व उपदेश सुन दीक्षित हो गये । सुधर्म ने भी पिता का अनुकरण किया । पिता भगवान् के चतुर्थ गणधर हुए और मैं उनका पांचवा गणधर बना । तुम्हारी पूर्व की चार देवियों ने स्वर्गच्युत होकर सुन्दर कन्यारूप पाया है और उन चारों कन्याओं से तुम्हारा परिणय होगा ।

यह सुनकर जंबूस्वामी का हृदय वैराग्य से भर गया । उन्होंने गुरु-चरणों पर गिरकर दीक्षा लेनी चाही, किन्तु माता-पिता की अनुमति के बिना वे दीक्षा लेने में असमर्थ रहे । जंबूकुमार ने माता-पिता से अज्ञा मांगी और परिणय के लिए वचनबद्ध चार कन्याओं

का और कहीं सम्बन्ध कराने का सुभाव दिया व दीक्षा लेने का अपना दृढ़ निश्चय अडिग रखा। कन्याओं ने और कहीं सम्बन्ध करने का विरोध किया और संदेश भेजा कि जंबूकुमार से हमारा परिणय करा दो। एक रात हम उनके पास रहेंगी, या तो वे हमारे स्नेह-पाश में बंधेंगे, या हम चारों उन्हीं के वैराग्य पथ के पथिक बनेंगी। जंबूकुमार का यथारीति उन चारों कन्याओं के साथ परिणय हुआ, सायंकाल उन चारों नवल-वधुओं के साथ जंबूकुमार अपने सुसज्जित शयनरुक्ष में गये। नवल-वधुओं ने कामचेष्टाएं कीं पर वे व्यर्थ रहीं। तब उन्होंने कुछ ऐसी कथाएं कहीं जिससे जम्बूकुमार दीक्षा की हठ छोड़ दे। लेकिन जम्बूकुमार ने भी ऐसी अन्य कथाएं कहीं जो पूर्व कथाओं को निरर्थक कर दीक्षा का समर्थन कर रही थीं। फिर व्यंग्य भी कैसे जा रहे थे व लोक-कथाओं की चर्चा भी हो रही थी। इतने में विद्युच्चर नाम का चोर जम्बूकुमार के घर चोरी के लिए पहुंचा, वह उनके कमरे की भित्ति से छिप कर खड़ा हो गया व नूतन वर-वधुओं के कथा-संलाप को सुनने लगा। जम्बूकुमार की मां ने विद्युच्चर को देख लिया तो विद्युच्चर ने माता से कहा कि मुझे जंबूकुमार के पास भीतर प्रवेश करा दो तो मैं कुमार को समझाने का यथाशक्ति प्रयत्न करूंगा। मुझे आशा है कि मेरी बात वे मान जावेंगे, नहीं तो मैं भी उनके साथ दीक्षा ले लूंगा। मां ने उसे अपना छोटा भाई कह कर जंबूकुमार के कक्ष के अन्दर भेजा। जंबूकुमार ने अपने बने मामा का समुचित आदर किया और उसकी बात सुनी। विद्युच्चर ने भौतिक दर्शनों के ही तर्क दिये। जंबूकुमार ने उन तर्कों का खंडन कर उसे निरुत्तर कर दिया। कुछ कथानक भी दोनों ओर से कहे गये। अंत में विद्युच्चर को भी प्रतिबोध हो गया। उसने जंबूकुमार की स्तुति की और दीक्षा लेने के अपने वचन के निर्वाह के लिए कटिबद्ध हो गया। चारों नवल वधुओं ने भी दीक्षा लेने की अपनी इच्छा बताई।

जब जंबूकुमार की दीक्षा की बात राजा श्रेणिक तक पहुंची, तो बड़े उत्साह से जंबूकुमार का अभिनिष्क्रमण-महोत्सव मनाया गया। पश्चात् सब लोग सुधर्म गणधर के पास गये व जम्बूकुमार ने दीक्षा ली। सब वस्त्र व अलंकार उतारकर फेंक दिये व सिर का केश लोच कर लिया। विद्युच्चर ने भी दीक्षा ली। जंबूकुमार के पिता अरहदास भी निर्ग्रथ साधु हो गये। उनकी माता व चारों नवल वधुएं भी आर्यिका हो गईं। सारा भौतिक ऐश्वर्य व वैभव अध्यात्म रस में डूब गया। कल की सराग-टोली आज वैराग्य की हम-जोली बन गई।

जंबूस्वामी अपने गुरु के साथ कठिन तप में संलग्न हो गये। अठारह वर्ष बीतने पर माघ शुक्ल सप्तमी के दिन विपुलगिरि के शिखर से सुधर्म स्वामी को निर्वाण और उसी दिन जंबूस्वामी को कैवल्य प्राप्त हुआ। इसके पश्चात् जंबूस्वामी अठारह वर्षों तक धर्मोपदेश देते हुए अंत में विपुलगिरि के शिखर पर निर्वाण को प्राप्त हुए।

जंबूस्वामी के निर्वाण के पश्चात् विद्युच्चर मुनि संघ के साथ ताम्र-लिप्ति पधारे। वे नगर के बाहर ही ठहर गये। वहां भूत-पिशाचों ने समस्त संघ पर महान् उपसर्ग किया। मुनि विद्युच्चर को छोड़कर शेष मुनि उपसर्ग सहन नहीं कर सके और भाग गये। मुनि

वियुच्चर ने अडिग हो धर्मध्यान और अनुप्रेक्षाओं में अपने को निमग्न रखा और समाधि-पूर्वक देह त्याग वे सर्वार्थसिद्धि को प्राप्त हुए ।

यही जम्बूसामिचरिउ का कथा सार है ।

प्रश्न— पंडितजी ! विद्वान् कहते हैं कि दूसरे लेखकों ने जम्बूस्वामी चरित्र लिखा जो पौराणिक आख्यान था लेकिन वीरकवि ने इस आख्यान को महाकाव्य में परिणत किया । क्या यह यथार्थ है ?

उत्तर— यह बात यथार्थतः सत्य है । महाकवि वीर के पूर्व जम्बूस्वामी चरित्र की कथा-वस्तु संघदासगणि ने वसुदेव-हिंडी में कथा की उत्पत्ति नामक प्रकरण में, गुणभद्र ने उत्तरपुराण के छिहतरवें पर्व में तथा कवि गुणपाल ने गद्य-पद्य मिश्रित शैली में रचित प्राकृत जंबूचरियं में ग्रथित की थी । पुष्पदंत ने अपभ्रंश महापुराण के उत्तर-खण्ड में सौवीं संधि में “जंबूस्वामीदिक्ख लण्णं” में पूर्णरूप से गुणभद्र का ही अनुकरण किया, पर वीर कवि ने लीक से हटकर कथा-गठन में अपनी मौलिकता का यथार्थ परिचय दिया है । कवि ने वस्तु-व्यापार-वर्णन जैसे ग्रीष्म वर्णन (18.13.1-7), वर्षा वर्णन (9.9.6), नदी-सरिता (5.10.4-9), जलक्रीडा (4.19) हस्ति-उपद्रव (4.17.18) आदि अनेक वर्णनों से महाकाव्य के अनुरूप वर्णन किया है । फिर यथा-स्थान छोटी-बड़ी अनेक कथाओं का समावेश करके और उनको मूल चरित्र में पिरोकर आख्यान को महाकाव्य की ओर ले जाने की दृष्टि रखी है । महाकाव्य में प्रतिद्वन्द्वी नायक भी होता है, तो कवि ने विद्याधर रत्नशेखर का आख्यान कल्पित किया । यह आख्यान वसुदेव हिंडी, उत्तरपुराण या प्राकृत जंबूचरियं में कहीं नहीं है । युद्ध में राजा श्रेणिक को न भेजकर जंबूकुमार (नायक) को भेजा है जो अपने शौर्य से प्रतिनायक को परास्त करता है । इसी तरह और भी अंश है जो कल्पित हैं पर महाकाव्य का कलेवर बनाने में आवश्यक हो गए हैं । उन्हें कवि ने बड़ी चतुराई से समेटा है और यथास्थान मूल-कथा में गूथा है । इस प्रकार सच है कि पहले का पौराणिक आख्यान कविवर के हाथों महाकाव्य बन गया है । वर्णन तो कल्पना के आधार पर ही होता है । काव्य बिना कल्पना के बन ही नहीं सकता ।

प्रश्न— पंडितजी ! जंबूसामिचरिउ के महाकाव्यात्मक मूल्यांकन में विद्वानों की क्या राय है ?

उत्तर— जहां तक मैंने जाना है विद्वानों की राय है कि ‘जंबूसामिचरिउ’ एक महाकाव्य है और उसमें महाकाव्योचित सभी गुण हैं । संक्षेप में आपको बताता हूँ—

1. व्याकरण सम्मत भाषा
2. ललित पद सन्निवेश
3. श्रुति मधुर वर्ण
4. अर्थगाभीर्य

5. काव्य के विविध अंग, रस-भाव
6. अलंकार-नियोजन
7. छंद
8. दोष व गुण याने दोष मुक्तता व गुणयुक्तता ।

संक्षेप में सभी काव्य और महाकाव्य के मूल्यांकन के गुण आ गये हैं । ये सब गुण इस महाकाव्य में यथास्थान पाये जाते हैं । कवि हृदय इस महाकाव्य को पढ़कर आनन्द-विभोर हो जाता है । वास्तव में यह काव्य का दैहिक रूप है, आन्तरिक रूप तो वे भाव व सिद्धांत हैं जिन्हें कवि पाठक के हृदय में चुपचाप प्रवेश कराता है और उसे अभिभूत कराता है ।

सुनकर पंडितजी को धन्यवाद दिया कि उन्होंने चतुराई से 'जंबूसामिचरिउ' के सम्बन्ध में पूछी गई बातों का सरल व निर्मल भाषा में उत्तर दिया जिससे इस महाकाव्य का बाह्य और आन्तरिक रूप स्पष्ट उजागर हो गया ।

-
1. वीर कवि कृत 'जंबूसामिचरिउ', संपादक—डॉ. विमलप्रकाश जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्रस्तावना—पृ. 43 ।
 2. वही, पृ. 11 ।
 3. वही, पृ. 14 ।
 4. वही, पृ. 12 ।
 5. वही, पृ. 13 ।
 6. वही, पृ. 13 ।
 7. वही, पृ. 13 ।
 8. वही, पृ. 81 ।



संसारानुप्रेक्षा

जम्मंतरइँ लेंतु मेल्लंतउ,
कवणु न कवणु गोत्तु संपत्तउ ।
वप्पु जि पुत्तु पुत्तु जायउ पिउ,
मित्तु जि सत्तु सत्तु बंधउ थिउ ।
माय जि महिल महेली मायरि,
बहिरिण वि धीय धीय वि सहोयरि ।
सामिउ दासु होवि उप्पज्जइ,
दासु वि सामिसालु संपज्जइ ।
केत्तिउ कहमि मुणहु अणुमाणे,
जम्मइ अप्पाणउ अप्पाणें ।
नारउ तिरिउ तिरिउ पुणु नारउ,
देउ वि पुरिसु नरु वि वंदारउ ।

अर्थ—जन्मान्तर ग्रहण करते और छोड़ते हुए यह जीव कौन सा गोत्र प्राप्त नहीं करता ? पिता पुत्र और पुत्र पिता बन जाता है । मित्र शत्रु बन जाते हैं और शत्रु बंधु । माँ पत्नी बन जाती है और पत्नी माँ । बहिन माँ बन जाती है और माँ सगी बहिन । स्वामी दास हो जाता है और दास स्वामियों का भी स्वामी । (कवि कहता है) मैं कितना कहूँ, अनुमान से ही जान लो, स्वयं स्वयं में ही उत्पन्न हो जाता है, नारकी तिर्यच और तिर्यच नारकी बन जाता है, देव भी मनुष्य और मनुष्य भी देव हो जाता है ।

जम्बूसामिचरिउ में रसयोजना

—डॉ. गंगाराम गर्ग

□

‘जम्बूसामिचरिउ’ अन्तिम केवली जम्बूस्वामी और उसके पूर्वभवों में विद्यमान प्रवृत्ति और निवृत्ति के संघर्ष और उसमें निवृत्ति की विजय की अनुपम कहानी है। वीर कवि ने जम्बूस्वामी जैसे अतुलनीय ‘युद्धवीर’ और ‘धर्मवीर’ के उदात्त चरित्र से काव्य को मण्डित किया है और सहज जीवानुभूतियों से परिचित होने के कारण उसे अधिक संवेदनीय भी बनाया है।

काव्य की रसवत्ता कवि का लक्ष्य रहा। रसरज शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग में संयोग शृंगार का अधिक चित्रण ‘जम्बूसामिचरिउ’ में हुआ है। संयोग वर्णन के भी दो रूप हैं नायिका-नायक का रूपवर्णन तथा मिलन-चित्रण। ‘जम्बूसामिचरिउ’ की नायिकाओं के अंग सौष्ठव में अलकों का घुंघरालापन, कटि की क्षीणता, भ्रू का बांकपन, अघरों का वर्तुलाकार, स्तनों की स्थूलता, कपोलों की चन्द्रखंड जैसी स्वच्छता और ललाट की संकीर्णता चित्रित हुई है। स्थूल सौन्दर्य की अपेक्षा नायिका का सूक्ष्म सौन्दर्य जम्बूस्वामी के मानस पर गहराई से अंकित हुआ है, हंस जैसी मंद-मंद चाल, हथेलियों का विलास, भौंह का बांकपन, चरणों की कोमलता से प्रभावित जम्बूस्वामी हर्षोन्मादवश नायिका की प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाते—

अभसियउ हंसहि गमणु तुज्भु,
 कलयंठिह कोमललविउ बुज्भु ।
 पडिगाहिउ कमलाहि चलणल्हासुं,
 तरुपल्लवेह करयलविलासु ।
 सिक्खिउ वेल्लिह भूवंकुडत्तु,
 सीसत्तभाउ सव्वु वि पवत्तु । 4.17.19-21

आश्रय और आलंबन के अन्योन्याश्रित होने के कारण लगभग एक जैसे ही भावों और मानसिक अनुभावों की अनुभूतियां नायिका और नायक को होती रहती हैं। 'जम्बूसामि-चरिउ' में सौन्दर्यवती युवतियां पौरुषमयी देहयष्टि और उसकी कान्ति पर मुग्ध हुई हैं। जम्बूस्वामी की देह-यष्टि तेज से दीप्तमान है। उनकी जंघायें, चक्राकार नितम्ब तथा लम्बी मुजाएं क्रमशः सुवर्ण स्तम्भ, सिंह और गज-मुण्ड के समान हैं। उनके ऊंचे कंधे जहाँ नायिका में शौर्यप्रेरित आकर्षण उत्पन्न करते हैं वहाँ उनके आरक्त अधर और सुन्दर कपोल उपभोग्य लालसा भी (5.12.12-20)। नायक के मनोरम रूप पर आसक्त पूर्वानुरागिनी युवतियों की मानसिकता बड़ी विभ्रमपूर्ण हो जाती है। प्रेमसिक्त हृदय की इस अंतरंगता में वीर कवि की बड़ी पैठ है। जम्बूस्वामी की रूपासक्ति से पुर की कन्यायें बड़ी भ्रमित हो गईं—किसी ने कंचुक को बाहुओं में पहन लिया, कोई गले में हार नहीं डाल सकी, कोई नेत्रों में अघूरा ही अंजन लगा पाई। एक कन्या कंकण को हाथ में पहनती हुई और दूसरी केशपाश को लहराती हुई भी अपने मण्डन-कर्म का ध्यान ही भूल गई। दोनों कामोत्तेजनावश कांपती हुई स्फटिकमय तोरण का आलिंगन करने लगीं। विभ्रम, आवेग, कम्प आदि संचारी भावों से सहवर्तित स्थायी भाव 'रति' के अनूठे चित्र हैं—

बाहुबलयनिवेशिय कंचुयाए,
 कंठालु न पारिय देवि ताए ।
 उतालियाए गलि न किउ हारु,
 अद्धंजिउ एककु जि नयणु फारु ।
 एककु जि बलउल्लउ करि करंति,
 विलुलियकवरी भरथरहरंति ।
 असमत्तमंडणुम्भायभग्ग,
 फलिहुरल्लय तोरणखंभे लग्ग ॥ 4.11 8-12

यौवनोन्माद में भूमते प्रेमी-प्रेमिकाओं के मिलन के अवसर 'उपवन-विहार' और 'जलक्रीड़ा' में सुलभ हुए हैं। अपनी प्रिया को एकान्त में पाकर प्रियतम क्या छेड़-छाड़ नहीं करते? प्रेमोन्मत्त युगलों द्वारा मुख, कपोल और अधरों के पारस्परिक चुम्बन, आलिंगन और नखच्छेद के कई लुभावने प्रणय-चित्र 'जम्बूसामिचरिउ' में उपलब्ध हैं। प्रणय कुपिता सुन्दरी प्रियतम से किये गये मान को क्षणभर भी तो स्थिर नहीं रख पाती। उसका फेरा हुआ मुंह प्रियतम की प्रशंसा पाकर उसके सन्मुख हो दोनों को आलिंगनपाश में बांध देता है।

तउ मुहहो जासियसयवत्तभन्ति,
 आवंति निहालहि भमरपंति ।
 इय भणिय जं जि सदवकभग्ग,
 परियत्तवि दइयहो कंठि लग्ग । 4.17.6

सुरतावस्था के मनोरम चित्र जलक्रीड़ा के प्रसंग में अंकित हुए हैं। रतितृप्ता रमणी की कटिवस्त्र संभालने और कम्पनशील नितम्ब को स्थिर करने की सामान्य चेष्टाओं को तो वीर कवि ने निःसंकोच चित्रित किया ही, उसने भोग्या नारी के आंगिक सौन्दर्य को भी सूक्ष्म दृष्टि से परखा-नखक्षत से अरुण हुआ सद्यःभोग्या का वर्तुल स्तन ऐसा भासित हो रहा था मानो मदनहस्ति के कुम्भस्थल पर अंकुश मारा गया हो—

* नहरारुणु तह थणवट्टु भाइ,
 अंकुसिउ कामकरिकुंभु नाइ । 4.19.15

स्वकीया नायिका के जो भी सजीव और यथार्थ प्रणय-चित्र वीर कवि ने प्रस्तुत किये वे यौवनानन्द से पूरित युवावस्था के प्रति कवि की आस्था के प्रतीक हैं। उन्मुक्त रमण-चित्रों को निःसंकोच प्रस्तुत करने पर भी वीर कवि मर्यादित प्रणय के ही हिमायती हैं। छत्ते के मधु को निःशेष कर देने वाली मधुमक्खियों से सर्वहारी वेश्याप्रेम की तुलना कवि की प्रणय-दृष्टि का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है।

जम्बूस्वामी की प्रमुखकथा में वियोग शृंगार का कोई भी प्रसंग कवि को नहीं मिला। जम्बूस्वामी को व्याही गई चारों श्रेष्ठि-कन्याओं को उसे कामासक्त बनाने की एक ही रात (सुहागरात) शर्तानुसार उपलब्ध हुई थी। जम्बूस्वामी के पूर्व भवदेव के कामोद्दीपन में पुरुषविरह के मर्मस्पर्शी चित्र 'सौन्दरनंद' के नंद और मेघदूत के यक्ष का स्मरण कराते हैं। गृहस्थ जीवन के अग्रज किन्तु अब विरक्त मुनि की प्रेरणा से भवदेव मुनिसंघ में सम्मिलित तो हो गए किन्तु अतृप्त भोगेच्छा को पूर्णतः नियंत्रित नहीं कर सके। उनके तम-मन में बसा भार्या का रूप-सौन्दर्य बलात् ठोकी हुई कील के समान दर्द करने लगा। अपनी प्रियतमा की नीलकमल जैसी कामल श्यामलांगी ललित एवं पतली देहदृष्टि की विह्वलता उसके स्मृतिपटल पर छा गई। अपने दर्द को भुलाकर प्रिय-पीड़ा की अनूभूति करानेवाले संवेदना चित्र संस्कृत साहित्य में भले ही मिल जायं हिन्दी साहित्य में तो कहीं दिखाई नहीं देते। विरही भवदेव की असली कसक है—अपनी रूप-ऋद्धि से मन को हरण करनेवाली हे मुग्धे ! शोक है कि तू मेरे बिन काम से पीड़ित हुई होगी—

नीलकमलदलकोमलिए सामलिए, नवजोव्वणलीलाललिए पत्तलिए ।
 रुवरिद्धिमणहारिएण मारिएण, हा मइं विरणु मयणं नडिए मुद्धडिए । 2.15.3-4

अतृप्त सुरतक्रीड़ा के मिठास की कल्पना भवदेव को घर लौटने के लिए विवश करने लगी। उसका निरन्तर स्मरण उसके पैरों में तीव्र गति भरने लगा। कामातुर व्यक्ति का इतना उत्तेजक चित्र अनुपम है—

तुरिउ तुरिउ धरि जामि पवत्तमि,
सेसु विवाहकज्जु निव्वत्तमि ।
दुल्लह् सुरयविलासुवभुंजमि,
नववहुवाए समउ सुहु भुंजमि ।

2.13.5-6

घर लौटने के निश्चय के तुरन्त बाद ही भवदेव को याद आया भाई द्वारा थोपा गया निवृत्ति भार । प्रवृत्ति और निवृत्ति के हिंडोलों के मध्य भूलती हुई भवदेव की मनःस्थिति भी भकभोरे खाने लगी कि वह किस हिंडोले में भूले ? अनिश्चय और मानसिक द्वन्द्व की पीड़ा ने उसे केवल एक चीख दी—किससे कहूं, कैसे फूट फूट कर रोज ? इधर पास में व्याघ्र है और दूसरी ओर दुष्ट नदी—

निलयहो जं न नियत्तउ सच्चउ,
भाइ पइज्जह एहु जि पच्चहु ।
कहमि कासु कह करमि महारडि,
एत्तह वग्धु पास इह वोत्तडि ।

2.13.8-9

बारहमासा, शारीरिक उन्माद के स्थूल चित्र, विरहिणियों के ऊहात्मक कथनों की अपेक्षा विरही की मानसिक स्थिति के सूक्ष्म चित्रण से वीर कवि का वियोग शृंगार न्यून होते हुए भी बड़ा अनुभूतिमय, स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है ।

‘जम्बूसामिचरिउ’ का दूसरा प्रमुख रस ‘वीर’ है । भारतीय साहित्य में व्यक्तिगत अहंकार की पूर्ति अथवा सुन्दरियों को आलिंगनबद्ध करने की महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत होकर ही अधिकांश युद्ध लड़े गये हैं । उनके नायक का लोकहित से सीधा सम्बन्ध न पाकर भावुक हृदय पूर्णतया रससिक्त नहीं हो पाता । ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों में राम के अतिरिक्त जम्बूस्वामी ही एक ऐसे योद्धा हैं जो सार्वजनिक हित और मर्यादा की स्थापना के लिए प्राणपण से भीषण युद्ध में जुटे हैं । विलासवती को बलात् व्याहने की चेष्टा करनेवाले हंस द्वीप के राजा रत्नशेखर ने उसके पिता राजा मृगांक पर हमला बोल दिया । केरल नगरी के गांव उजाड़े गए । निरीह जनता के हरे-भरे खेत और बाग-बगीचे नष्ट कर दिये गये । इस अनर्थ की गगनगति विद्याधर द्वारा सूचना पाकर वीर कवि का शान्त और विरक्तभावी नायक भी विचलित हो उठा । भला वह जनहित की अपेक्षा कैसे करता ? मृगांक से अपना कोई लेना-देना न होने पर भी भीषण युद्ध में जुट जाने की यह मनोवृत्ति उन व्यक्तियों को बड़ी प्रेरणाप्रद है—आज भी और कल भी जो दूसरों के प्रति होता हुआ प्रत्यक्षदर्शी अन्याय अपने मोटे पेट में सहजतया पचा जाते हैं और इस पर भी लोकसेवक अथवा उत्तम सामाजिक होने का दंभ करते हैं । जम्बूस्वामी ने निर्दोष कन्या के अपहरणकर्ता रत्नशेखर को द्वन्द्व युद्ध में पराजित किया, मृगांक को उसके बन्धन से मुक्त कराया । रत्नशेखर द्वारा अन्याय न करने का वचन पाकर उसे क्षमा भी किया तथा विश्व को एक अनूठे आदर्श की राह दिखाई ।

हाथी पर विराजमान वीर जम्बूस्वामी के युद्धकौशल के ओजप्रद चित्र 'जम्बूसामिचरिउ' में अंकित हुए हैं (6.19.16-2)। हिन्दी कवि केशवदास से पूर्व वीर कवि ने ही नायक के धनुष संधान का चामत्कारिक प्रभाव अभिव्यक्त किया है। जम्बूकुमार ने ज्यों ही चाप को आस्फालित किया लोक निनादित हो उठा तथा रत्नाकर चीत्कार कर उठा। दुर्धर्ष योद्धा के हथियार-संचालन के इतने सर्वव्यापी परिणाम वीर कवि की वाणी से ही प्रस्फुटित हुए हैं। जम्बूस्वामी के धनुष से छूटे हुए बाण के शब्द से देवताओं के विमान स्वर्ग से ढुलककर आकाश में लटकने लगे, सूर्य और चंद्र द्रुतगति से काँपने लगे और जलधि भुलसकर ऊपर उठने लगे। पर्वतों के शिखर कड़ककर टूटने लगे तथा प्रासाद विघटित होकर फूटने लगे तब प्रतिद्वन्द्वी भटों के प्राणों की तो ओकात ही क्या थी? अनेक भटों के प्राण बाण के शब्द के साथ ही निकल भागे—

तैं सद्दें भडहं पडंति पाण,
लंबंति ढलविकय सुरविमाण ।
कंपंति दवविकय सूरचंद,
उट्ठंति भलविकय जलहिमंद ।
तुट्ठंति कडविकय सिहरिसिहर,
फुट्ठंति धवलहर जाय विहर ।

1.8.9-12

नायक के शौर्य-प्रदर्शन एवं हथियार संचालन की त्वरा और कौशल की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त 'जम्बूसामिचरिउ' में युद्ध के सजीव चित्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। मृगांक और रत्नशेखर की चतुरंगिणी सेनाओं की भिड़न्त भीषणतम है। दोनों ओर से टकराती हुई तलवारों, भिड़ते हुए फरसों तथा बाण-वर्षा ने प्रलयकारी श्याम मेघों का दृश्य उपस्थित कर दिया है।

वाहंति हगंति वाह कुमरा,
खाणखाणखणंत करवालकरा ।
विधंति जोह जलहरसरिसा,
वावल्लभल्ल कण्णयवरिसा ।
फारक्क परोप्परह ओवडिया,
कौंताउह कौंत्करहिं भिडिया ।

6.6.6-8

वीरगति प्राप्त योद्धाओं के अलग-थलग बिखरे हुए क्षत-विक्षत जर्जरावयव, विच्छिन्न गर्दन, कुचले हुए पैर, चूर-चूर हुआ उरस्थल युद्ध की भीषणता प्रकट कर देते हैं—

करिकरकलयगलु पयदलियनलु,
उर - सिर - सरीरसवचूरिउ ।
न मुणइ पिउ कवणु सममरणमणु,
रणे सुहडकलत्तु विसूरिउ ।

6.8.11-12

वीर रस के प्रवाह की स्थिति में परुष वचनों की अभिव्यक्ति के माध्यम से क्रोध और युद्ध में प्रदर्शित जुगुप्सा भाव निरन्तर पल्लवित होते रहते हैं। अतः रौद्र और वीभत्स रस, वीर रस के निकटस्थ सहयोगी हैं। जम्बूकुमार के दर्प-पूर्ण वचनों को सुनकर खेचर की मनः-स्थिति ऐसी दिखती है मानो रौद्र रस मानवीकृत रूप में हो। खेचर अधिकाधिक रोष से कांपता उठा, उसका कण्ठ स्तब्ध हो गया, शिराजाल प्रदीप्त हो उठा। उसके विशाल कपोल प्रस्वेद-सिक्त हो गये। टेढ़ी भौहें, मस्तक की सलवटें, आरक्त नेत्र, अपने ही दांतों से काटे गये अग्रधर—सब में बवंर क्रोध भांकने लग गया —

जिह जिह दंडकरंबिउ जंपइ,
तिह तिह खेयस रोसहि कंपइ ।
थड्डकंठु- सिरजालु पलित्तउ,
चंडगंडपासेयपसित्तउ ।
दट्ठाहस गुंजुजललयणु,
फुरहुरंतनासउडभयावणु ।
पेक्खवि पहु सरोसु सप्पामहि,
बुत्तु वग्गोहस मंतिहि ताम हि ।

5.1.3.9-12

भीषण युद्ध के परिणामस्वरूप बहती हुई शोणित-नदी और उसमें विद्यमान मथा हुआ मांस और वसा न चाहते हुए भी मानव को सम्यता के विभिन्न चरणों में अनिवार्यतः देखने पड़ते हैं। मांस पिण्डों पर मक्खियों का भिनभिनाना तथा शृगाल, चील और गिद्धों का मंडराना मन में वितृष्णा और ग्लानि जागृत कर देता है। अगर कोई खुश है तो वे हैं भूत, पिशाच, वेताल और डाकनियां—जिनकी वर्षों संजोई गई चाह इन्हीं दिनों पूरी होती है —

रुहिरनइसोत्ते छत्तइ तरंति,
मत्थिक्कमास वसवह भरंति ।
संतित्तच्चित्त भूयइ रमन्ति,
डाइणि वेयाल सयइ कम्मंति ।
सिव-घार गिद्ध वायस भमंति,
मच्छियसंघायई छमच्छमंति ॥

7.1.10-12

जम्बूस्वामी और उनके पूर्वभवी रूप भवदेव तथा शिवकुमार के विरक्तिपूर्ण प्रसंगों एवं जम्बूस्वामी और विद्युच्चर के कथात्मक संवादों में 'निर्वेद' पर्याप्त मात्रा में उभरा है फिर भी शृंगार और वीर रसों के समान प्रभावकारी नहीं बन सका।

अपने जीवनकाल की चरम सुन्दरी भवदेव की विवाहिता नागवसु प्रौढावस्था में ही कितनी जर्जरित हो गई है? उसके सुन्दर रूप की याद में तड़पते हुए भवदेव का जब उससे साक्षात्कार हुआ तो यकायक रूप की इस क्षणिकता के विचार से उसे कितना भटका लगा होगा —

नालियसरिसु मुंडियड सिर,
 लालान्निलु मुहु घग्घरियगिर ।
 नयणइं जलबुब्बुय सरिसयइं,
 नियथाणु मुअवि तालु वि गयइं ।
 चिच्चुयनिड्डाल कवोलतयइं,
 रणरणहिं नवरि वायाहयइं ।
 निम्मंसु निलोहिउ देवघर,
 चम्मेण नद्धु हड्डहं नियर ।
 नीसल्लु अवरु हियवउ जणउ,
 पडिछंडु निहालहिं महु तणउ । 2.18.10-15

उक्त छंद में सुन्दर चिबुक, ललाट, कपोल और त्वचा का कान्तिहीन होकर वायुग्रस्त हो जाना, मुख में लार और बँटे हुए नेत्रों में पानी भरा रहना तथा सिर का नारियलवत् दिखना आदि उद्दीपन विभाव 'निर्वेद' जागृत करने में पूर्ण सक्षम हैं ।

श्रेष्ठ-कुमारियों के विवाह की चिन्ता में माता-पिता का वात्सल्य भाव सूक्ष्मतया ही 'जम्बूसामिचरिउ' में अभिव्यक्त हुआ है । एकलौते पुत्र जम्बूस्वामी की मां जिनमती की आकुलता का एक अनूठा वात्सल्य चित्र 'वीर कवि' ने उकेरा है । वत्सलता के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों के चित्तेरे कवि भी ऐसे चित्र की कल्पना नहीं कर सके । प्रत्येक भारतीय मां सौभाग्यवती वधू के आगमन पर अपने वंशवृद्धि की भावी उमंग में निमग्न रहती है इसी कारण पुत्र और पुत्रवधू की बड़ी उम्र में भी उनके प्रति उसकी वत्सलता बनी रहती है पर जिनमती को तो एकलौते बेटे जम्बूस्वामी के विरक्त होने के भय से उत्पन्न वंश-वृद्धि न हो सकने की पीड़ा ने झकझोर रखा है । तभी वह पुत्र की प्रथम वैवाहिक रात्रि को व्यवस्थित-कामासक्त पुत्रवधुओं के हाव-भाव और विलासपूर्ण प्रियवचनों को देखने-सुनने में रुचि ले रही है, इस व्यग्रता में पुत्र के कामासक्त हो सकने की उम्मीद उसे संतोष भी देती है । पुत्र के प्रति प्रदर्शित पुत्रवधुओं की काम-चेष्टाओं को व्यग्रतापूर्वक निरन्तर देखते रहने का 'अनहोना' व्यवहार इतना मर्मस्पर्शी है कि विद्युच्चर जैसा निष्ठुर चोर भी करुणा-विगलित हो उसका सहायक बन जाता है । नेमिनाथ के विरक्त होने पर विह्वल शिवादेवी की मानसिक स्थिति की तुलना का संकेत देकर जिनमती की आंतरिक पीड़ा का आभास मात्र वीर कवि ने रसमर्मज्ञों को कराया है —

सिबएवि जेम दुहवियल पाण, सिरिनेमिकुमारें मुच्चमाण ।

घर पंगणु मेल्लइ वार-वार, पुणु जोवइ सुयवासहरदार । 9.14.7-8

पुत्र के विरक्त होने की चिन्ता, कामासक्त पुत्रवधुओं की विलासमयी हरकतें देखने की व्यग्रता, फिर अपनी चेष्टा के प्रति 'ग्लानि' किन्तु पुनः वंशवृद्धि न हो सकने का 'भय' तथा

तदजनित 'व्यग्रता' कभी पुत्रवधुओं की सफलता की 'आशा' एवं उससे उत्पन्न 'हर्ष' आदि संचारी भावों से सहवर्तित मां की 'वत्सलता' का यह अनूठा चित्र अपनी सानी नहीं रखता ।

'जम्बूसामिचरिउ' में 'करुण' और अद्भुत-रस के प्रवाह हैं । भवदत्त और भवदेव के पिता की मृत्यु पर उनकी मां का सती होना एक कारुणिक प्रसंग है (2.5.16-17) । 'विस्मय' भाव की स्थिति दो अवसरों पर निष्पन्न होती है—एक तो विद्युन्माली देव द्वारा भगवान् के समवशरण में आने पर (2.3.5), दूसरी गगनगति विद्याधर के श्रेणिक की राजसभा में आकाशमार्ग से प्रविष्ट होने पर । रत्नशेखर और मृगांक की सेनाओं में प्रहार को न सहसकने वाले सैनिकों का युद्धभूमि से 'भागना' 'भय' से सम्पृक्त है ।

निष्कर्षतः 'जम्बूसामिचरिउ' की काव्य-भूमि में वीर, शृंगार और शान्त रस की त्रिवेणी ही अबाधगति से प्रवाहित रही है । अन्य रसों की सामान्य निष्पन्नता कवि की सहज भावानुभूति का प्रतीक है । 'जम्बूसामिचरिउ' की रसवत्ता में अधिक विश्वास होने के कारण ही वीर कवि ने उसके काव्यास्वाद को अधिक आनन्दप्रद स्वयं ही घोषित कर दिया था —

बालकीलासु वि वीर, वयणपसरंतकव्वपीडसे ।
कण्णयुडएहि पिज्जइ, जणेहि रसमउलियच्छेहि ॥



जंबूसामिचरिउ में छन्द—योजना

—श्रीमती अलका प्रचण्डिया 'दीति'



लय की अणिमा और महिमा ही छंद है। नाद की गतियां जब लयमयी बनती हैं तब छंद जन्म लेता है। अर्थ काव्य का प्राण है तो छंद ऊर्जा है। वस्तुतः छंद लयात्मक, नियमित तथा अर्थपूर्ण वाणी है। छंद काव्य की नैसर्गिक आवश्यकता है। छंदोमयी रचना में सम्प्रेषणीयता और लयान्विति का योग रहता है जिससे उसमें जीवन को आनंदित करने की शाश्वत सम्पदा मुखर हो उठती है। छंदोबद्ध वाणी आत्मा को चमत्कृत कर उसे उल्लास में निमग्न कर देती है ताकि जीवन की समूची विषमता और विषादमयता का सर्वथा विसर्जन हो।¹ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश वाङ्मय में छंद-शास्त्र लेखन की चार प्रमुख शैलियाँ उपलब्ध हैं² यथा —

- (1) सूत्र शैली—पिंगलाचार्य तथा आचार्य हेमचन्द्र द्वारा व्यवहृत।
- (2) श्लोक शैली—अग्निपुराण और नाट्यशास्त्र में प्रयुक्त।
- (3) एकनिष्ठ शैली—गंगादास और केदारभट्ट द्वारा गृहीत जिसमें लक्षण उदाहृत छंद में ही निहित रहता है।
- (4) विभित शैली—'प्राकृत पैगलम' में व्यवहृत शैली जिसमें अलग छंदों में भी और कहीं-कहीं उदाहृत छंदों में भी उल्लेख हुआ है।

अपभ्रंश छंदों के स्रोत दो हैं—एक तो विभिन्न छंद-शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश छंदों का विश्लेषण और दूसरे अपभ्रंश काव्य में प्रयुक्त छंदों का अनुशीलन।³ अपभ्रंश प्रबन्ध-काव्यधारा, सचमुच छंद की दृष्टि से बहुत अधिक समृद्ध है। यह समृद्धि आकस्मिक नहीं

अपितु परम्परा का विकास है। अपभ्रंश छंद के बारे में एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि वह व्यक्ति नहीं जाति से सम्बन्ध रखती है। सामान्यतया अपभ्रंश सुविज्ञों ने दो प्रकार के अपभ्रंश छंद स्वीकार किये हैं —

- (क) प्रबन्धकाव्य परम्परा के छंद
- (ख) चारण अथवा मुक्त परम्परा के छंद।

अपभ्रंश कवि छंद के प्रयोग को लेकर बड़े सजग रहे हैं। लोकभाषा की गनिशीलता को बनाए रखने के लिए यह आवश्यक भी था। यही कारण है कि उसमें दोनों परम्पराओं के छंद मिलते हैं। श्री अल्सफोर्ड ने अपभ्रंश छंद के दो भेद किये हैं—गणप्रधान और मात्राप्रधान। मात्राप्रधान के पांच भेद किये हैं⁴ —

1. चार पाद का लयात्मक छंद
2. दोहा आकार के छंद
3. केवल लयवाले छंद
4. मिश्रित छंद
5. घत्ता के आकार के छंद।

इसी प्रकार प्रयोग की दृष्टि से भी भेदों की कल्पना की जा सकती है —

- (क) मुक्तक रचनाओं में प्रयुक्त होनेवाले छंद
- (ख) कड़वक रचना में प्रयुक्त छंद
- (ग) कड़वक के आदि-अन्त में प्रयुक्त छंद।

अपभ्रंश के छंद प्रायः संगीत प्रधान हैं, वे ताल-नेय हैं।⁵ अपभ्रंश छंदों में 'यति' प्रायः संगीतात्मक होती है। लोकभाषा के छंदों का अपभ्रंश के छंदों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

अपभ्रंश के श्रेष्ठ कविकोविद वीर विरचित 'जंबूसामिचरिउ' नामक चरितात्मक महाकाव्य में मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छंदों का प्रयोग परिलक्षित है लेकिन अधिकता मात्रिक छंदों में पञ्चट्टिका, घत्ता, दुवई, दोहा, गाथा, वस्तुखंडयं और वर्णिक वृत्तों में स्रनिवणी, शिखरिणी और भुजंगप्रयात इस चरितात्मक महाकाव्य में प्रमुख रूप से प्रयुक्त हैं।⁷ गाथाओं की भाषा निस्संदेह प्राकृत से प्रभावित है। डॉ. नेमीचन्द्र शास्त्री ने तेईस छंदों—करिमकरमुजा, दीपक, पारणक, पद्धडिया, अलिल्लह, सिहावलोक, त्रोटनक, पादाकुलक, उर्वशी, सारीय, स्रनिवणी, मदनावतार, त्रिपदी शंखनारी, सामानिका, भुजंगप्रयात, दिनमणि, गाथा, उद्गाथा, दोहा, रत्नमालिका, मणिशेखर, मालागाहो, दण्डक— का उल्लेख किया है।⁸ डॉ. विमलप्रकाश जैन ने 'जंबूसामिचरिउ' ग्रंथ के सम्पादन में प्रयुक्त छंदों का मात्रा तथा वर्णों की संख्यानुसार पहले समवृत्त फिर विषमवृत्त क्रम से विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है।⁹

'जंबूसामिचरिउ' महाकाव्य प्रमुख रूप से सोलह मात्रिक अलिल्लह एवं पञ्चट्टिका छंदों में निबद्ध है। तदुपरान्त पन्द्रह मात्रिक पारणक अथवा विसिलोथ छंद का स्थान है।

इनके साथ बीच-बीच में अन्य छंदों का प्रयोग भी द्रष्टव्य है। अधिकांशतया वीर कवि ने सम-वृत्त छंदों का उपयोग किया है। वर्णिक छंदों में कुल पांच समवृत्त छंदों का व्यवहार हुआ है। विषमवृत्त मात्रिक छंदों में गाथा छंद के विविध प्रकार, दोहा, रत्नमालिका, वस्तु एवं मणि-शेखर केवल ये पांच छंद उपलब्ध हैं। पांच स्थलों पर दंडक छंद भी दृष्टिगत है। कड़वकों के ग्रादि-ग्रन्त में ध्रुवक, घत्ता छंद भी परिलक्षित हैं।

कवि काव्य में व्यवहृत छंदों के उदाहरणों की तालिका देना यहां असंगत न होगा यथा—

समवृत्त मात्रिक

- (1) अलिल्लह (16 मात्रिक अंत ल ल)—
जलगयकुंभथोरथरणहारउ, फेणावलिसोहियसि यहारउ ।
उह्यकूल दुमनियसियवसणउ, जलखलहलख सज्जियरणसउ ॥ 1.6.22-23
- (2) उर्वशी (20 मात्रिक अंत रगण)—
जम्मदिवसम्मि पुत्तस्स बहुपरियणो, चक्कवट्टी-कयाणंदवद्धावणो ।
नियवि पुत्ताणणं गहिरसरवाइणा, सिक्कुमाराहिहाणं कयं राइणा ॥ 3.4.3-4
- (3) करिमकरभुजा (8 मात्रिक अंत ल ल)—
विहिडफडु करि खंधोवरि ।
कड्डिउ विसहइ थाहर न लहइ ॥ 7.10.20-21
- (4) खंडयं (13 मात्रिक अंत रगण)—
पहु तउ दंसण कारणं वियप्पइ में मणं ।
संहं तुम्हेहि समुच्चयं चिरभवि कहि मि परिच्चयं ॥ 8.2.1-2
- (5) त्रोटनक (16 मात्रिक अंत ल ग)—
पंचमिह वसंत पक्खधवले, रोहिणिठिए मयलंछण विमले ।
पच्चूस पसूय सलक्खणउ, कुलसंगलु जयवत्तुह तणउ ॥ 4.7.10-11
- (6) दीपक (10 मात्रिक अंत ग ल)—
संतेण ता मुक्कु वसि होवि पुणु थक्कु ।
जो नट्ठु सनरिदु पडिमिलिउ जणविदु ॥ 4.22.23-24
- (7) मदनावतार (20 मात्रिक अंत यगण)—
एरिसम्मि बुद्धरम्मि भीसणे रणे, गरुयनाय-दिण्णघाय तुट्टपहरणे ।
सुहडंसंड-बाहुवंडमुंडमंडिरे, लुणायटक-जाणियसंक-बाहुहिडरे ॥ 6.10.1-2
- (8) पद्धडिया (पञ्भटिका) (16 मात्रिक अंत जगण)—
सरलंगुलिउन्निवि जंपिएहि, पयडेइ व रिद्धि कुडुबिएहि ।
देउलहि विहूसिय सहीहि गाम, सग व अरवइण विचित्तधाम ॥ 1.8.7-8

- (9) पादाकुलक (16 मात्रिक अंत ग ल) —
 वरकमलालिगियचारुमुत्ति, रयणत्तयसाहियपरममुत्ति ।
 तइलोयसामि-सममित्तसत्तु, वयणमुहासासिय सयलसत्तु ॥ 1.19-10
- (10) पारणक या विसिलोय (15 मात्रिक अंत नगण) —
 रसभावाहि रंजियविउसयणु, तो मुयवि सयंभू अण्णु कवणु ।
 सो चेय गव्वु जइ नउ करइ, तहो कज्जे पवणु तिहयणु धरइ ॥ 1.2.12-13
- (11) सगिणी (सगिणी) (20 मात्रिक अंत ल ग) —
 कसणमणिखंडचिचइयधरणीयलं, सप्पसंकाइ चलवलियकिरणुज्जलं ।
 पर्याहं चंपेवि आहणइ जा किर थिरं, घुणइ कुंचइय-चंचूमऊरो सिरं ॥
 (सगिणी नाम छंदो) 1.9.8-9
- (12) सारीय (20 मात्रिक अंत ग ल) —
 जो महितलप्यंत विज्जाहंरिदेण, उक्खित्तहत्थेण णं वणकरिदेण ।
 नवनिशिय पहरणफडाडोयनाएण, पंचमुहगुंजारसण्हिनिनाएण ॥ 5.14.6-7
- (13) सिहावलोक (16 मात्रिक अंत मगण) —
 विधंति जोह जलहरसरिसा, वावल्लभल्लकणिय वरिसा ।
 फारक्क परोप्परु ओवडिया, कौताउह कौतकरहि भिडिया ॥ 6.6.7-8
- समवृत्त वर्णिक**
- (14) त्रिपदी शंखनारी या सोमराजी (6+6+6 वर्णं गण य य+य य+य य) —
 नमसेवि वीरं, महामेरुधीरं, तिलोयगयक्कं ।
 विलीणासुहाणं, जणंभोरुहाणं, पवोहिक्कअक्कं ॥ 4.5.1-2
- (15) धवला अथवा दिनमणि (19+19 वर्णं गण 6×न गण+न) —
 उहयबलमिलणपडिखुहियजलयरबलं ।
 समय-तडफिडवि भल्लभल्लइ जलनिहिजलं ।
 तुरय-करि-सुहड-रह-फुरियरुइपहरणं ।
 गिलइ तिहुवणु व कलयलेण पुरारवि रणं ॥ 7.5.11-14
- (16) भुजंगप्रयात (12+12 वर्णं गण य य य य+य य य य) —
 तद्यो पेल्लियं भुत्ति जाणेण जाणं, गइं देण अण्णं गइं दें सवाणं ।
 तुरंगेण मग्गम्मि तुंगं तुरंगं, भुयंगं भुयंगेण वेसासु रंगं ॥ 4.21.13-14
- (17) समानिका (8+8 वर्णं गण र ज ग ल+र ज ग ल) —
 मे कणिट्ठु भाई एक्कु मंडलंतरम्मि थक्कु ।
 वच्छरेसु आउ अज्जु, जाणिऊण तुज्जु कज्जु ॥ 9.17.8-9)

विषमवृत्त मात्रिक

- (18) गाथा-इसके पांच प्रकार परिलक्षित हैं यथा —
- (i) उग्गाहा (उद्गाथा या गीति) (12+18, 12+18)
 अत्याणुरुवभावो हियए पडिफुरइ जस्स वरकइणो ।
 अत्थं फुडु गिरइ निरा ललियक्खरनेम्मिएहि तस्स नमो ॥ 7.1.3-4
- (ii) पथ्या (12+18)
 सो जयउ महावीरो भाणाणलहुणियरइसुहो जस्स ।
 नाणम्मि फुरइ भुअणं एककं नक्खत्तमिव गयणो ॥ सं. 9-10
- (iii) गाहू (उपगीति) (12+15, 12+15) —
 मयरद्धयनच्चु नंडतिउ, जंबूकुमारो भेल्लियउ ।
 बहुवाउ ताउ एं विट्ठउ, कट्ठमयउ वाउल्लियउ ॥ 9.1.5-6
- (iv) परपथ्या (12+18, 12+15) —
 जाणं समगसहोह्मंभुउ, रमइ मइफडक्कम्मि ।
 ताणं पि हु उवरिल्ला कस्स व बुद्धि परिफुरइ ॥ 1.6.9-10
- (v) विपुला (12+18, 12+15) —
 रइविप्पश्रोयसंतत्तमयणसयणं व कुसुमसंवलियं ।
 धारंति ताउ विददुमहीरय रुइंदतुरं अहरं ॥ 4.14.1-2
- (19) बंडक —
 अलंक्रियनिसंतेण तरुणारुणदित्तेएण बालेण पसरेण वा तेण,
 सूयाहरे-दिण्णदीवोहदित्ती निहित्ता सुदूरे किया निप्पहा,
 विद्धिवद्धावणावंतलोएहि वज्जंतपडुपडहखरतरडसरमंद बहुमद्दुहाम
 कलवेणु-वीणाभुणी,
 सालकंसालतालानुसारेण आणंदवरमत्तधुम्मंततरलच्छिनरुचंत-
 तरुणीमहाथट्टसंघट्टतुट्टंतआहरणमणिमंडिया चउप्पहा । 4.8.1-5
- (20) बोहउ (13+11, 13+11) —
 जाणमि एककु जि विहि घइइ, सयलु वि जगु सामणु ।
 जे पुणु आयउ निम्मविउ को वि पयावइ अणु ॥ 4.14.9-10
- (21) मणिशेखर (23+10 दोनों पदों में अंत रगण) —
 कहि मि महिपडियतरुपणसंछन्नया, संठिया पन्नया ।
 कहि मि फणिमुक्कफुक्कारविससामला, जलिय दावनला ॥ 5.8.22-23

- (22) मालगाहो (40+30+26) —
 नहकुलिसदलियमायंगतुंगकभयलगलियकीलाललितमुत्ताहलोह ।
 विप्फुरियकविलकेसरकलावधोलंतकंधरूलहेसा ।
 हंजंति ताम सीहां जाम न सरहं पलोयंति ॥ 7.4.1-3
- (23) रत्नमालिका (चतुष्पदी) (14+6, 14+6 प्रत्येक पद के अंत में सगण) —
 नीलकमलदलकोमलिए सामलिए नवजोव्वणलीलाललित पत्तलिए ।
 रूवरिरद्धिमणहारिणिए मारिणिए हा मई विणु मयणें नडिए मुद्धडिए ॥ 2.15.3-4
- (24) वस्तु (15+25+26+दोहा) —
 ताम राएं दिण्णु अत्थाणु
 सिहासणु विहि मि ठिउ एक्कु पासि कामिणिजणावलि ।
 पज्जलियमणिएमउडसिर पुणु निविट्ठ मंडलियमंडलि ।
 पुणु सामंत महंत थिय सेणिउ इयराउत्त ।
 भडयड थक्क विणोयकर नरनाणाविहधुत्त । 5.1.7-11

कड़वकों के आदि और अन्त में प्रयुक्त छंदों-ध्रुवक और घत्ता का प्रयोग अपने नाना प्रकारों के साथ कवि-काव्य में दृष्टिगत है। इस प्रकार 'जंबूसामिचरिउ' में कुल छब्बीस छंदों का व्यवहार हुआ है। गाथा छंद अपने पाँच भेदों के साथ और ध्रुवक और घत्ता नाना प्रकारों के साथ व्यवहृत हैं। वस्तुतः 'जंबूसामिचरिउ' में महाकाव्यानुकूल छंदों का प्रयोग हुआ है। छंदों की नवीनता और विविधता से काव्य की गरिमा का श्रीवर्द्धन हुआ है। छंद की आह्लादन-क्षमता से कवि श्री वीर की कविता-गागर में भाव-सम्पदा का असीम सागर तरंगायित हो उठा है।

1. जैन हिन्दी काव्य में छंदोयोजना, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीप्ति', पृष्ठ 8 ।
2. हिन्दी साहित्य कोष, प्रथम भाग, सम्पा० धीरेन्द्र वर्मा आदि, पृष्ठ 291 ।
3. अपभ्रंश भाषा और साहित्य, डॉ. देवेन्द्रकुमार, पृष्ठ 231 ।
4. अपभ्रंश स्टेडेन, 1937, पृष्ठ 46 ।
5. जैन साहित्य की हिन्दी साहित्य को देन, श्री रामसिंह तोमर, प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ, पृष्ठ 9 ।
6. भारतीय साहित्य कोष, सम्पा० डॉ. नगेन्द्र, पृष्ठ 422 ।
7. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, पृष्ठ 157 ।
8. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, खण्ड 4, पृष्ठ 131 ।
9. जंबूसामिचरिउ, सम्पादक—डॉ. विमलप्रकाश जैन, पृष्ठ 101-107 तक ।

महाकवि वीर की दार्शनिक दृष्टि

—डॉ. भागचन्द्र जैन, 'भास्कर'



महाकवि वीर अपभ्रंश के उन शीर्षस्थ साहित्यकारों में अग्रगण्य हैं जो अपनी एक मात्र कृति के कारण अमरता का महनीय किरीट बांध चुके हैं। जंबूसामिचरिउ (वि.सं. 1076) उनकी अमर कृति है, सन्धिबद्ध महाकाव्य है, रस-अलंकारों से आभूषित रचना है। इस रचना के अध्ययन से यह तथ्य प्रच्छन्न नहीं रह जाता कि उसका लेखक अपभ्रंश के साथ ही संस्कृत और प्राकृत में भी समान रूप से सिद्धहस्त रहा है। प्रथम संधि के अन्त में और पंचम संधि के प्यारहवें कड़वक में प्राप्त संस्कृत श्लोक तथा प्रत्येक संधि की प्राथमिक गाथाएँ, प्रशस्ति भाग तथा प्रथम (1.11) और सप्तम (7.4) संधियों के बीच में समाहित प्राकृत गाथाओं का भाषा-सौन्दर्य महाकवि के त्रिभाषा वैदग्ध्य का पर्याप्त परिचायक है।

महाकवि मात्र भाषा के ही विद्वान् नहीं थे, उन्होंने व्याकरण और दर्शन का भी भीरु अध्ययन किया था (1.3)। प्रस्तुत आलेख में हम उनकी दार्शनिक विचारधारा को उपस्थित करने का प्रयास करेंगे। यहां यह उल्लेखनीय है कि जंबूसामिचरिउ एक कथाप्रधान ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थों के समान इसमें कवि ने दार्शनिक सामग्री को ठूसकर नहीं भरा है। स्वभावतः जो भी प्रासंगिक रहा उसका संक्षिप्त पर प्रामाणिक विवेचन किया है इसलिए कथा-प्रवाह यहां बोझिल नहीं हो पाया। दार्शनिक सूत्र उतने ही प्रस्तुत किये गये जो कथा-चालन में सहयोगी बन सके। यहां हम धर्म और दर्शन को एक साथ लेकर चल रहे हैं।

धर्म का स्वरूप

धार्मिक आचार्यों के समक्ष प्राथमिक समस्या रही है धर्म की परिभाषा। स्वभावतः यह परिभाषा ऐसी हो जो सार्वभौमिकता लिए हुए हो और यथावश्यक गुणों से श्रोतप्रोत हो। साधारणतः धर्म के साथ कई भावनायें, रीतिरिवाज तथा कर्मकाण्ड जुड़े रहते हैं पर उन्हें धर्म नहीं कहा जा सकता। धर्म तो वस्तुतः आन्तरिक विशुद्ध भावना से संबद्ध है जिसमें वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता क्षीर-जलवत् घुली हुई रहती है। विश्वास धर्म का प्राण अवश्य है पर उसे सम्यक् ज्ञान, भावना और आचरण पर आधारित होना चाहिए। यदि इनमें से किसी एक बिन्दु पर विशेष बल दिया गया तो निश्चित ही धर्मान्धता और धार्मिक उन्माद के साथ ही असदाचरण का प्रवेश जीवन के सुरम्य प्रांगण में हो जाता है। इसलिए धर्म भावनात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक इन तीनों तत्त्वों का समन्वित रूप होना चाहिए। हरिभद्रसूरि ने भी ललितविस्तरा में धर्म को इन्हीं त्रिकोणों से समझाया है।

जैनाचार्यों द्वारा निर्धारित धर्म की परिभाषाओं का यदि विश्लेषण किया जाय तो उन्हें हम तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—आध्यात्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक-सामाजिक। धर्म की आध्यात्मिक परिभाषा वैयक्तिक विशुद्धि पर अधिक जोर देती है जिसमें रागादि भाव से निवृत्ति हो, मिथ्यात्व से मुक्ति हो और मोहक्षय के फलस्वरूप आत्मा के स्वाभाविक परिणामों की अभिव्यक्ति हो। मोहक्लोहविहिणो परिणामो अग्रणो हि समो धम्मो (भाव-प्राभृत 81), धर्मः श्रुतचारित्रात्मको जीवस्यात्मपरिणामः कर्मक्षयकारणम् (सूत्रकृतांग, श्रीलांकाचार्यवृत्ति, 2.5) जैसी परिभाषाएं इस वर्ग के अन्तर्गत आती हैं। ये परिभाषाएं व्यक्ति के आत्मोन्मुखी प्रवृत्ति की ओर इंगित करती हैं। धर्म का यह एक पक्ष है।

जैनाचार्यों ने धर्म के दूसरे पक्ष को भी गहनता से समझा है। उनकी दृष्टि में व्यक्ति के साथ ही समाज भी अनुस्यूत है। अतः धर्म को सामाजिकता की सीमा में कसने के लिए उन्होंने उसे और व्यापक बनाया और कहा कि धर्म वह है जो अहिंसामय हो, दयामूलक हो और संयमगर्भित हो। धम्मोदयाविशुद्धो (बोध. 25), अहिंसादिलक्षणो धर्मः (तत्त्वार्थवार्तिक, 6.13.5) धम्मो मंगलमुष्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो (दसवेयालिय, 1.1) आदि परिभाषाएं इस वर्ग में आती हैं। इस परिभाषा में व्यक्ति की अपेक्षा समाज प्रमुख हो जाता है।

धर्म की तृतीय परिभाषा में व्यक्ति और समाज दोनों समाहित हो जाते हैं। उसमें सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय के परिपालन को धर्म माना गया है—रयणत्तमं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो (कार्तिकेय. 478)। व्यक्ति और समाज की सारी गतिविधियों का मूल्यांकन रत्नत्रय की परिधि में हो जाता है। जीवन की यथार्थ व्याख्या और लक्ष्य प्रतिष्ठा इसी में संघटित हो जाती है।

धर्म की ये तीनों परिभाषाएँ वस्तुतः विशेष अन्तर लिये हुए नहीं हैं। वे सभी परस्पर संबद्ध हैं। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने इन तीनों का उपयोग अपने ग्रन्थों में किया है। महाकवि वीर ने धर्म को आगम से जोड़कर कहा कि अहिंसा धर्म का स्वरूप है और

ग्रहिसा क्या है ? इसे आगम से समझना चाहिए परीक्षापूर्वक । आगम वही है जो जीवदया का उपदेश दे और पूर्वापर विरोध कथन से विमुक्त रहे । ऐसा धर्म ही प्रभावक होता है । कवि धर्म की व्याख्या पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप से भी करते हुए दिखाई देते हैं । उन्होंने कहा कि धर्म से ही चक्रवर्ती, हरि (वासुदेव) आदि होते हैं और धर्म से ही व्यक्ति महान् गुणोंवाली व भोगों को प्रदान करनेवाली पुरंदर की लीला को धारण करते हैं —

धर्ममें चक्रवर्टि-हरि-हलहर, धर्ममें लोचवाल-ससि-दिएणर ।
 धर्ममें मणुय महागुणसीला, भुंजियभोय पुरंदरलीला ॥
 धम्मु ग्रहिसालक्खणलक्खिउ, किज्जइ आगमेण सुपरिक्खिउ ।
 आगमु सो जि जित्थुं दय किज्जाइ, पुग्वावरविरोहु न कहिज्जइ ॥ 2.11.6-9

धर्म की इस परिभाषा को कवि ने पौराणिक आख्यानों के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है । इसमें तीनों परिभाषाओं का समावेश हो गया है । यह भी यहां द्रष्टव्य है कि धर्म की यह परिभाषा सार्वभौमिकता लिये हुए है । उसमें किसी धर्म विशेष का नामोल्लेख नहीं है ।

महात्मा बुद्ध और क्राइस्ट ने भी धर्म की परिभाषा के साथ दया को अनुस्यूत किया है । अवतारवाद भी इसी सिद्धान्त से प्रतिफलित हुआ है । कुरान (सुरा. 23.8) भी इसी परिभाषा को मानता हुआ दिखाई देता है । पेटर्सन और मैकटंगार्ट जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी धर्म के इसी रूप को स्वीकारा है । पेटर्सन ने विश्वास, ज्ञान और आचरण पर समान जोर देने के लिए कहा है । उसके अनुसार इनमें से कोई एक भी पक्ष यदि गौण कर दिया जाय तो धर्म की परिभाषा खण्डित हो जाती है और धर्मान्धता तथा धार्मिक उन्माद बढ़ जाता है । वह यह भी कहता है कि परम्परा और प्रगति इन दो विरोधी तत्त्वों के बीच धर्म पनपता रहता है । प्रगतिवादी भी परम्परा से मुख नहीं मोड़ पाते । प्रत्येक धर्म में विकास हुआ है पर किसी भी उत्तरकालीन संप्रदाय का साहस मूल संप्रदाय से हटने का नहीं हुआ ।

वीर कवि की धर्म की परिभाषा भी मूल ग्रन्थों से हटकर नहीं हुई । यद्यपि उनका समय उथल-पुथल का समय था पर पुष्पदन्त के समान वे व्यावहारिक स्तर पर भी उतरकर धर्म की परिभाषा को युद्ध के साथ नहीं जोड़ सके (णायकुमारचरिउ 8.13) ।

जीव का स्वरूप

जंबूसामिचरिउ (2.1) में जीव के स्वरूप पर मुख्यतः दो प्रसंगों में विचार किया गया । प्रथमतः राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में तथा दूसरा विद्युच्चर और जम्बूस्वामी के संवाद के रूप में । श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर में तीर्थंकर महावीर से जो उत्तर दिलाया गया उसमें जीव का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत हो गया है । उसे हम दोनों नयों से समझ सकते हैं—निश्चयनय से और व्यवहारनय से । निश्चयनय से यह जीव निरंजन (पूर्णतः कर्ममुक्त), शान्त एवं दर्शन-ज्ञान से युक्त है । यह आत्मा स्व-पर तत्त्व को जाननेवाला है, अनादि-अनन्त एवं स्वज्ञान प्रमाण मात्र है । पर पदार्थ को जानते हुए भी वह 'पर' से मिलता नहीं और अन्य द्रव्यों से उसका

कोई विरोध नहीं। परन्तु व्यवहारनय से प्रत्येक शरीर जीव सर्वथा अनात्म स्वरूप कर्मजनित शरीर से सुख-दुःखात्मक उपाधि को उसी प्रकार सहन करता है जिस प्रकार जंगम (सजीव) बलीवर्दादिक प्राणी अजंगम (निर्जीव) शकटादि वस्तु को ढोता है। कवि ने जीव और कर्म का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए कुछ और भी उदाहरण दिये हैं। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार रवि-किरणों के सम्पर्क से सूर्यकान्तमणि अग्नियुक्त दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार अचेतन पुद्गलात्मक कर्म परमाणुओं से प्रादुर्भूत शरीर भी सचेतन आत्मा के सम्पर्क से चेतन व क्रियावान् दिखाई देने लगता है। आत्मा के भावकर्म से पुद्गल स्कन्ध से इन्द्रियां बनती हैं, बढ़ती हैं एवं मोहनीय कर्म के सामर्थ्य से नाना विकल्पात्मक इन्द्रियसमूह उत्पन्न होता है। इस प्रकार जो भी जीवनिमित्तक पर्याय है उसे ही व्यवहार में जीव कहा जाता है। कर्म से बंधा यही जीव भिन्न-भिन्न पर्याय ग्रहण करता है, चतुर्गतियों का अनुभव करता है और यही जीव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के माध्यम से कर्म को, मोहजाल को नष्ट कर डालता है एवं मोक्ष पा लेता है। कर्म का निःशेष नाश ही मोक्ष है।

अत्यन्ति निरंजणु जीउ संतु, सब्भावें दंसणनाणवंतु ।
 संवेईयप्परपरमतत्तु, निरवहिसण्णाणपमाणमेत्तु ।
 जाणंतु वि पह न परेण मिलिउ, आयासपमुहदव्वहि न खलिउ ।
 नीसेसनिरत्थोवाही सहइ, जंगमण अजगमु जेम वहइ ।
 संते गयणे नवभवसमत्थु, पावइ अवयासु धराइअत्थु ।
 दिवसयरकिरणकारणुलहंतु, रविकंतु व दीसइ अग्गिवतु ।
 तिह जोग्गकम्मपरमाणुखंधु, परिवड्ढियग्रहमिय-बुद्धिबंधु ।
 जीवेण निमित्तों मोहथामु, सवियप्पु वियंभई करणगामु ।
 इय जाव जीव नइमिस्सिओ वि, ववहारें भण्णई जीउ सो वि ।
 संसारनिबधणु तेण जणिउ, तं नासु निरामउ मोक्खु भणिउ ।
 घत्ता—उप्पज्जइ खिज्जइ गुरु-लहु किज्जइ नरयपमुहगइ अणुहवइ ।
 कम्मासयवारणु भावियकारणु सो च्चिय मोहजाणु खवइ ।

2.1

यह समूचा वर्णन आगमानुसार है। भगवती सूत्र (20.2) में जीव के 12 पर्यायार्थक शब्द मिलते हैं जिनमें से वीर कवि ने मात्र जीव शब्द का उपयोग किया है। “निरंजणु” शब्द भी जीव के लिए आया है पर भगवती सूत्र में उसका उल्लेख नहीं है और न ही किसी अन्य आगम ग्रन्थ में उसका उल्लेख दिखा। लगता है, इस शब्द का प्रयोग अपभ्रंशकाल में प्रारम्भ हुआ है। समराइच्चकहा, परमात्मसार आदि ग्रन्थों में वह बहुलता से आया है। दसवीं शताब्दी तक इसका प्रचार अधिक हो गया था। वहीं से यह हिन्दी साहित्य में चल पड़ा। हिन्दी साहित्य के आदिकालीन और मध्यकालीन साहित्य में यह शब्द अपभ्रंश साहित्य से ही है।

स्वभावतः निरंजन जीव पुद्गल कर्मों से आवृत्त होकर संसार में संसरण करता रहता है, चतुर्गतियों में भटकता रहता है (2.2)। महाकवि वीर ने संसार अवस्था का चित्रण करते हुए कहा है कि वह अवस्था ऐसी है जिसमें मनुष्य का चंचल मन चौरस्ते के दीपक के समान

सांसारिक विषयों में डोलता रहता है, जीवित आयुष्य सर्प की जिह्वा-स्फुटण के समान चंचल है और बल गिरी नदी के पूर के समान निरन्तर हास को प्राप्त होता रहता है। लक्ष्मी का विशाल गण्डमाला रोग जैसा है और विषयसुख नखों से खाज खुजलाने के समान है (8.7)। वह विरोधात्मक संगतियों से भरा हुआ है। एक के पास भोजन करने की शक्ति है तो भोजन नहीं, दूसरे के पास भोजन है तो खाने की शक्ति नहीं। एक की दान प्रवृत्ति है तो धन नहीं, दूसरे के धन है तो दान का व्यसन नहीं (10.2)। यह सब पुण्य-पाप का फल है। सुख-दुःख का संयोग पुण्य-पाप से ही होता है (3.13)।

सांसारिक दुःखों की जड़ में कषाय रहती है। क्रोध,मान, माया और लोभ से जीव अपने मूल स्वभाव को भूल जाता है। रति लोभ से वह संकट के महासागर में गिर जाता है। क्रोध में हिताहित का विवेक खो जाता है, बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, मन विचलित हो जाता है (5.13)।

जम्बूसामिचरिउ अन्तर्कथाओं से भरा हुआ है। इसलिए उसमें विषय-सामग्री कम और कथा भाग अधिक है। संसार की स्थिति को स्पष्ट करनेवाली अनेक लोककथाएँ उल्लेखनीय हैं—विषयासक्त हाथी की दुर्गति, बन्दर को अतृप्तवासना का फल, कामवासनाओं के कारण वानर की मृत्यु, कबाड़ी का घनापहरण, कमलगंध-लोलुपी भ्रमर की मृत्यु, नकुल द्वारा सर्प का मरण, शृगाल की मृत्यु, मधु की खोज में ऊंट की मृत्यु, लकड़हारा, चंगसुनार पुत्र, भोगवासनाग्रस्त ब्राह्मणपुत्र, मधुबिन्दु आदि।

निवृत्ति मार्ग

सांसारिक दुःखों से विनिर्मुक्त होने के लिए वीर कवि ने पारम्परिक मार्ग का उल्लेख किया है। यहां श्रावकाचार और मुनि-आचार का वर्णन यद्यपि अत्यल्प है फिर भी वह मूल सिद्धान्त का संकेत कर ही देता है। श्रावकाचार का तो कोई उल्लेख ही नहीं है। हां, चक्रेश्वर के माध्यम से यह अवश्य कहा गया है कि घर में रहते हुए भी नियम और व्रतों को धारण किया जा सकता है। घरि संठिउ नियमवयई घरहिं (3.9)। सागारधर्मामृत में भी यही कहा गया है (1.2)। ठाणांग (1.15) में पन्द्रह प्रकार के सिद्धों का उल्लेख है जिनमें एक गृहलिगी सिद्ध भी है। वीर कवि का उपर्युक्त उद्धरण इतना कहने के लिए पर्याप्त है कि 11-12वीं शती में गृहस्थावस्था में चारित्रिक शुद्धि पर विशेष बल दिया गया। यह आवश्यक इसलिए था कि कर्मकाण्ड का आधिपत्य हो जाने के कारण ज्ञान और चारित्र को एक सीमा तक धक्का लगा। दूसरी बात यह है—जैन परम्परा निवृत्ति के क्षेत्र में क्रमिक विकास को अधिक उचित मानती है। मुनिव्रत के अभ्यास के लिए श्रावकावस्था निश्चित ही सर्वोत्तम साधन है। जम्बुकुमार ने भी पिता के आग्रह पर श्रावकव्रत ग्रहण किये (3.9)।

मुनिचर्या

जंबूसामिचरिउ में मुनिचर्या का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक मिलता है। भवदेव के प्रसंग में कवि ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी दृष्टि में मुनि की आवश्यक शर्त यह है कि

वह सर्वप्रथम संकिलष्ट भावों का त्याग करे, परमात्मा का चिंतन करे, रागद्वेष भाव से मुक्त हो, इन्द्रियनिग्रही हो, शत्रु-मित्र आदि से समभावी हो —

संकिट्ठभाव सव्व वि चइया, सविसेसदिवक्ख पुणारवि लइया ।
 अरुभसइ निरंजणु परमपरु, वे मेरुलइ रायदोस अवरु ।
 रुंभइं मणवयणकायपसरु, नासइ इंदियविसया अवरु ।
 अरि-मित्तु सरिसु समकणयतिणु, सुहुहुसमु समजीवियमरणु ।
 निंदापसंससमु वयविमलु, भुंजेइ अजिइभु व करि कवलु । 2 20

अनगार बनने के लिए माता-पिता तथा परिजनों की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इस शर्त को पूरा करने के बाद ही जंबूसामि को मुनि दीक्षा दी गई (8.6-7)। मूलाचार, दशवैकालिक आदि आगम ग्रन्थों में भी ऐसा ही निर्देश है।

परिजनों की अनुमति पाने के बाद व्रताभ्यासी के लिए एक कठोर संकल्प करना पड़ता है मुनिव्रत पालन करने का। जंबूकुमार ने संकल्प किया कि वह संसार त्याग कर मुक्ति प्राप्त करेगा जिससे मनरूपी मत्कुण पुनः डंक न मार सके (8.8)।

मुनि को अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करना भी आवश्यक माना गया है। जंबूसामिचरिउ में उनका वर्णन स्पष्ट रूप से नहीं आता। छः आभ्यन्तर और छः बाह्य तपों का भी उल्लेख मिलता है (10.20-23)। इसके बाद बारह अनुप्रेक्षाओं का चिंतन किया जाता है (11.2-14)। यहीं बाईस परीषहों का भी उल्लेख मिलता है। इन सभी में कोई नवीनता नहीं है, अतः उनको उद्धृत नहीं कर रहा हूँ। जहां तक मोक्ष के स्वरूप का प्रश्न है, उसकी अवधारणा करते हुए यह लिखा है कि इन्द्रिय व्यापार समाप्त हो जाता है, अर्थ विकार रहता नहीं, काल द्रव्य विलीन हो जाता है और जीव अपनी स्वाभाविक स्थिति (निरंजनता, कर्म रहितता) में पहुंच जाता है (8.8)।

जंबूसामिचरिउ वस्तुतः कथाग्रन्थ है, चरितकाव्य है। इसमें बीसों कथाएँ जुड़ी हुई हैं। इसलिए दार्शनिक विषय को प्रस्तुत करने का अवसर कवि को मिला ही नहीं। कथा-प्रवाह में कोई अवरोध न आये, इस उद्देश्य से उसने ऐसे अवसरों को टाला भी। संसार और संसार-मुक्ति से संबद्ध सारे विषय को कथाओं के माध्यम से उपस्थित कर ही दिया गया। इस कथ्य में दार्शनिक गंभीरता आती तो निश्चित ही कथा में बोझिलता बढ़ जाती। अतः दार्शनिक विषय की कमी जंबूसामिचरिउ की कमी नहीं मानी जानी चाहिए। हाँ, यह अवश्य है कि उसमें स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसी शैली और पाण्डित्य अवश्य दिखाई नहीं देता।

जैनतर दर्शनों के सम्बन्ध में भी यहां विचार कर लेना चाहिए। महाकवि ने विद्युच्चर के माध्यम से चार्वाक और सांख्य दर्शनों के ही कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख किया है अत्यन्त संक्षेप में (10.2-5)। विद्युच्चर की दृष्टि में निवृत्ति मार्ग मात्र उदर-पोषण के लिए है जिसे प्रमादी लोग स्वीकार करते हैं। भिक्ख निमित्तु लिंगु उद्धिट्ठउ (:0.2)।

आत्मा का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। देह भी न स्वयं जीव है और न जीव का कार्य ही है। वह पंचभूतों से उत्पन्न होता है और जिस प्रकार मुड़, धानकी और जल के

योग से मादक शक्ति उत्पन्न हो जाती है उसी प्रकार कर्म भी पुद्गल निर्मित हैं। जो कुछ प्रतिभासित होता है, वही जीव है। वह दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के समान आभासित होता है। चूँकि उसमें अध्यवसाय रूप परिणामन नहीं होता इसलिए चार्वाक की दृष्टि में परलोक, स्वर्ग, मोक्ष आदि नहीं होते।

जम्बूस्वामी के माध्यम से महाकवि ने चार्वाक के इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने कहा-पंचेन्द्रियों एवं मन से उत्पन्न सविकल्पक ज्ञान का उपादान कारण यदि पंचभूत है तो फिर सभी जीवों के मूर्त कारण से उत्पन्न मूर्तज्ञान की परिणति एक जैसी क्यों नहीं होती? इसी तरह अचेतन पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न अचेतन शरीरादिक के समान ज्ञान भी अचेतन होना चाहिए। पर तथ्य यह है कि ज्ञान एक चेतन तत्त्व है और ज्ञप्ति-ज्ञानना इसकी ही क्रिया है। धर्म-अधर्म किसी भी स्थिति में एक से नहीं हो सकते। सुख-दुःख वस्तुतः उन्हीं की अभिव्यक्ति है (10.4-5)।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि चूँकि जम्बूसामिचरिउ मूलतः चरित्रकाव्य है, अन्तर्कथाओं से भरा हुआ है, इसीलिए दार्शनिक विचारधारा की विस्तृत प्रस्तुति में महाकवि की कोई विशेष रुचि नहीं रही है। उन्हें कदाचित् पाठक का विशेष ध्यान था। अनावश्यक लम्बे दार्शनिक संवादों में वे उसे उलझाना नहीं चाहते थे। मात्र प्रसंगों में दर्शन का स्पर्श करते हुए ही कथा को आगे बढ़ाने में उन्हें औचित्य दिखा है। इसलिए जम्बूसामिचरिउ की शैली प्रभावक भी सिद्ध हुई है।



एकत्वानुप्रेक्षा

जीवहो नत्थि को वि साहिज्जउ,
कम्मफलइं जो भंजइ विज्जउ ।
एक्कु जि पावइ निउइ महल्लउ,
निवडइ घोरनरए एक्कल्लउ ।
एक्कु जि खरघम्मेण विलिज्जइ,
एक्कु वि वइतरणिहि वोलिज्जइ ।
एक्कु जि ताडिज्जइ असिवत्तहि,
एक्कु जि फाडिज्जइ करवत्तहि ।
एक्कु जि जोएं गलियवियप्पउ,
जायइ जीउ सुद्धपरमप्पउ ।

घत्ता—एक्कु जि भंजइ कम्मफलु, जीवहो बीयउ कवणु कलिज्जइ ।
सत्तु मित्तु कर्हि संभवइ, रायदोसु कसु उप्परि किज्जइ ॥

अर्थ—जीव का ऐसा कोई जानी या वंश सहायक नहीं है जो उसके कर्मफलों को काट दे । जीव अकेला ही मोक्ष को प्राप्त करता है और अकेला ही घोर नरक में गिरता है, वहाँ अकेला ही तीक्ष्ण ताप से तपाया जाता है, अकेला ही वैतरणी में डूबता है । जीव नरक में अकेला ही असिपत्रों से फाड़ा जाता है, अकेला ही करौत से चीरा जाता है । वह अकेला ही योग [ध्यान व तप] से समस्त विकल्पों को खत्म कर शुद्ध परमात्मा हो जाता है । जीव अकेला ही कर्मफल को भोगता है, दूसरा (अपना) किसे गिना जाय ? (किसीका) शत्रु या मित्र होना कहां सम्भव है ? (अतः) राग व द्वेष किसके ऊपर किया जाय ?

जम्बूसामिचरिउ की कथानकसृष्टि और हिन्दी काव्य-परम्परा

—डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन

□

जम्बूसामिचरिउ महाकवि वीर की कदाचित् एकमात्र ऐसी कृति है जो उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को काफी अंश तक उजागर कर देती है। 10-11वीं शती के इस महाकवि ने तत्कालीन अभिज्ञात ग्रंथों का पारायण कर एक वर्ष की ही कालावधि में इतने बड़े महाकाव्य की सर्जना कर दी यह उनके श्रम और वैदुष्य का ही महाफल माना जा सकता है।

जम्बूस्वामी जैन परम्परा का सर्वमान्य व्यक्तित्व रहा है। जैसा कि हम जानते हैं इन्द्रभूति, सुधर्मा एवं जम्बूस्वामी तक की आचार्य परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर परम्पराओं के बीच साधारणतः कोई मतभेद नहीं है। यह समय 62/64 वर्षों का रहा है। जम्बूस्वामी सुधर्मा स्वामी के पट्टधर शिष्य थे। उन्होंने उनसे ही आगम ग्रंथों का अध्ययन किया जो कालांतर में श्रुति माध्यम से हस्तांतरित होता रहा। सुधर्मा और जम्बूस्वामी के प्रश्नोत्तरों में ही समूची जैन आगम परम्परा सुरक्षित दिखाई देती है। भेद प्रारम्भ होता है केवली जम्बूस्वामी के बाद। दिगम्बर परम्परा उनके बाद क्रमशः विष्णु या नन्दि (14 वर्ष), नन्दिमित्र (16 वर्ष), अपराजित (22 वर्ष), गोवर्धन (19 वर्ष) और भद्रबाहु (29 वर्ष) इन पांच श्रुतकेवलियों को मानती है जबकि श्वेताम्बर परम्परा इनके स्थान पर प्रभव (11 वर्ष),

संयमभव (23 वर्ष), यशोभद्र (50 वर्ष), संभूतिविजय (8 वर्ष) और भद्रबाहु (14 वर्ष) की गणना पंचश्रुतकेवलियों में करती है। इस परम्परा के विषय में और अधिक कहना अप्रासंगिक होगा। यहाँ हमारा मात्र इतना ही अभिधेय है कि जम्बूस्वामी तक जैन परम्परा अविच्छिन्न रही है। यह उनके व्यक्तित्व का निदर्शक है।

अर्धमागधी आगमों में जम्बूस्वामी के व्यक्तित्व को स्पष्ट करनेवाले कतिपय उद्धरण अवश्य मिलते हैं पर उनका क्रमबद्ध जीवन-चरित संघदासगणि (5-6वीं शती) द्वारा लिखित वसुदेव हिण्डी में ही उपलब्ध होता है। वहीं वृत्तान्त कुछ नामों में हेर-फेर के साथ गुणभद्र के उत्तरपुराण [(897 ई.) (76.1-213)] और पुष्पदंत के महापुराण (वि. सं. 1076) में मिलता है। इसके बाद डॉ. विमलप्रकाश जैन ने जम्बूसामिचरिउ के अपने गम्भीर संगदकीय वक्तव्य में गुणपाल के जंबूचरियं को रखा है और वीर कवि के जंबूसामिचरिउ को उससे प्रभावित माना है परन्तु यह अधिक तर्कसंगत नहीं लगता। कारण यह कि एक तो जंबूचरियं का रचनाकाल निःसंदिग्ध नहीं है और यदि सारे प्रमाणों के साथ उसका समय निश्चित किया भी जाए तो विक्रम की 11वीं शताब्दी से पूर्व का वह सिद्ध नहीं होता। ऐसी अवस्था में दोनों आचार्य एकदम समकालीन सिद्ध होते हैं। फिर उनमें किसका किस पर प्रभाव है यह सिद्ध करना कठिन हो जाता है। मात्र क्लिष्ट शैली के कारण उसे पूर्वतर माना जाए यह बात गले नहीं उतरती। संस्कृत, प्राकृत साहित्य में अनेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो उत्तरकालीन हैं पर शैली की दृष्टि से जटिल हैं। फिर जंबूसामिचरिउ की शैली कोई बिल्कुल सरल भी नहीं है। उसमें वंदर्भी और लाटी के साथ ही गौड़ी और पांचाली रीति का भी उपयोग यथास्थान किया गया है इसलिए हमारी तो अवधारणा है कि जंबूसामिचरियं जंबूसामिचरिउ का आदर्श आधारग्रन्थ नहीं रहा है। आधारग्रन्थ देखना ही है तो यह कहा जा सकता है कि महाकवि ने उत्तरपुराण की कथा को ही अपनी प्रतिभा से पल्लवित किया है। जो कुछ भी अंतर्कथाएं आई हैं वे लौकिक आख्यान हैं और उनका समावेश कवि ने प्रतिभापूर्वक मूलकथा में कर दिया है। गुणपाल ने भी उन कथाओं का जो उपयोग किया है उसे या तो वीर कवि का अनुकरण कहा जा सकता है या उसे काकतालीय न्याय के आधार पर समानता मात्र माना जा सकता है। लोकाख्यानों का उपयोग प्राचीन कवि अपनी रचनाओं में भरपूर करते ही रहे हैं। मात्र उनको ही देखकर एक दूसरे से प्रभावित होने की बात अधिक युक्त नहीं। हां, यह अवश्य कहा जा सकता है कि गुणपाल की काव्य-प्रतिभा अपेक्षाकृत अधिक रही है। वीर कवि ने कथा-प्रवाह को सुगठित, सुव्यवस्थित और सुरुचिकर बनाने के लिए मूलकथा में जो भी परिवर्तन-परिवर्द्धन किया है वह उनकी सूक्ष्म दृष्टि कही जा सकती है। वे भवभूति, भारवि और पुष्पदंत के समान उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकारों की एक लंबी शृंखला का ताना-बाना करते दिखाई नहीं देते। यह शायद कवि की अपनी सूक्ष्म-बुद्धि का फल है। अन्यथा कथाप्रवाह की गति मंद हो जाती और पाठक एक बोझिलता का अनुभव करने लगता, समूची कथा पढ़ने के बाद यह निश्चित है कि पाठक कहीं भी ऊब नहीं पाता।

जम्बूस्वामी की चरित-विषयक सामग्री जैनागमों में अधिक नहीं मिलती। तब प्रश्न उठता है कि यह कथानक वसुदेवहिण्डी में कहां से आया? डॉ. विमलप्रकाश जैन ने

जैनविद्या

जंबूसामिचरिउ का बड़ा सुन्दर सम्पादन किया है। उन्होंने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी है। उसमें इस प्रश्न का उत्तर देते समय उन्होंने अश्वघोष के सौंदरानंद काव्य की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इन दोनों के कथानकों में निःसंदेह काफी समानता मिलती है। पर इसके साथ ही यदि हम तीर्थंकर महावीर के चरित तथा थेरगाथा में आये मालुंक्यपुत्र आदि अनेक स्थविरों के जीवन-प्रसंगों की ओर दृष्टिपात करें तो जंबूस्वामी की कथानक रचना में और भी कारण जुड़ सकते हैं।

जम्बूस्वामी का कथानक अन्तर्कथाओं के महाजाल से सन्नद्ध है। ग्यारह संधियों में रचा गया यह महाकाव्य लगभग पचास अन्तर्कथाओं से गुंथा हुआ है। उसमें अधिकांश अन्तर्कथाएं ऐसी हैं जिन्हें अलग कर देने पर भी कथाप्रवाह में कोई अन्तर नहीं पड़ता। अधिकांश स्थानों पर तो ये अन्तर्कथाएं पैबन्द जैसी अलग ही जुड़ी हुई दिखाई देती हैं। ऐसा लगता है जैसे काव्यप्रतिभा को दिखाने और ग्रन्थ परिमाण को बढ़ाने की दृष्टि से उन्हें संयोजित किया गया हो। अन्तर्कथाओं की योजना की पृष्ठभूमि में कथानायक के चरित्र को अधिकाधिक प्रभावक बनाने और उसकी गुणात्मक विशेषताओं को स्पष्ट करने का उद्देश्य अवश्य सन्निहित रहता है पर जम्बूसामिचरिउ में उनका उपयोग इस रूप में अधिक दिखाई नहीं देता। हां, एक विशेषता अवश्य मानी जा सकती है कि महाकवि प्रखर धार्मिक उपदेष्टा के रूप में हमारे समक्ष आता हुआ दिखाई नहीं देता इसलिए कथानक लोककथाओं के माध्यम से क्षिप्र गति से बढ़ता चला जाता है।

अमानवीय तत्त्वों के आधार पर लोकचिन्तन को आंदोलित करने का लोककथाओं का एक जो प्रमुख उद्देश्य रहता है वह प्रस्तुत जम्बूसामिचरिउ की अंतर्कथाओं में परिस्फुटित हुआ है। उदाहरणतः—वसंतऋतु में कामक्रीड़ा (4.13-19), वधुओं की कामचेष्टाएं (8.16) वेश्यावाट (9.11-13), अति प्राकृतिकता (पंचम संधि), उपदेशात्मकता (दशम संधि), पूर्वजन्म संस्कार, विविध प्रदेशों की महिलाओं का सौंदर्यवर्णन (4.5), लोकजीवन-चित्रण (5.9), अटवी-वर्णन (5.8), वीररस (4.12, 5.14, 6.4, 10.5-14), विविध वाद्य संगीत (5.6), कौतूहल (5.5, 7.4) आदि। इनके समावेश से लोकाख्यानों में सरसता और गभीरता आ गयी है।

लोकोक्तियों के प्रयोग ने कथाप्रवाह को और भी प्रभावक बना दिया है—

सौ योजन पर वैद्य और सिर पर सांप—

जोयणसयविज्जु सप्पु सिरए। 5.4.13

जानते हुए भी हालाहल विष-वेल को मुंह में डालना—

जाणंत वि मा मुहि छुवहि हालाहल विसवेत्तिल। 5.13.5

आदि जैसी लोकोक्तियां ग्रंथ में यथास्थान प्रयुक्त हुई हैं।

महाकवि वीर की दृष्टि में कवि वह है जिसके मतिरूपी फलक पर समग्र शब्द-भूहरूपी कंडुक नाना अर्थों में प्रवृत्त होती हुई क्रीड़ा करती है (1.6)। कवि की इस परिभाषा

से उसका काव्यग्रंथ भलीभांति निखरता हुआ दिखाई देता है। यहां कवि के द्वारा प्रयुक्त कतिपय रूपकों की शब्दसूची का उल्लेख प्रासंगिक होगा जिससे एक तरफ कवि की काव्यप्रियता इंगित होती है और दूसरी तरफ कथा प्रस्तुति में सघनता और गंभीरता आ जाती है—

श्रेष्ठ—हंस, स्तन, 1.6	लोभ-गजेन्द्र, 3.9
स्वरहीन—कुकवि कृत काव्य	अलक—स्वरलहर, 4.13
जलवाहिनी—कामनियां	ललाट—अर्धचन्द्र
सरोवर—कुकलित्र, 1.7	कटि—मूठ
किरण—सर्प, 1.9	भ्रूयुगल—चाप
यश—मरकत, ऐरावत, 1.11	अधर—करमुद्रिका
नीति—तरंगिणी, सागर	कपोलयुगल—चन्द्रखंड
सज्जन—कमल, दिवाकर	कंठ—शंख
धर्म—महारथ	बाहुयुगल—मालतीमाला
मुख—पूरुगचन्द्र, 1.12	नाभि—गुलेल
नेत्र—बालहरिणी, 1.12 कमलदल, 3.3	बलित्रय—घनुष
स्वर—कोकिला,	चरणयुगल—कमलपत्र
अधोष्ठ—बंधूकपुष्प	मन—अश्व, 4.13, मत्कुण, 8.8
स्तन—कलश, स्नानघट	उज्ज्वलदंत—कुंदपुष्प
नितम्ब—चन्द्र	मन—चत्वर दीप, 8.7
शिरोभाग—भ्रमरकुल	आयुष्य—सर्पजिह्वा
मुण्डितसिर—नारियल, 2.18	लक्ष्मीविलास—गंडमाला रोग
भव—काला सर्प, 3.7	विषयसुख—खुजली
इन्द्रियां—फण	सुकुमारता—शिरीष कुसुम
चतुर्गति—मुख	स्त्रीपुरुषयुगल—ग्राम वन
मिथ्यात्व—विसदृश नेत्र	केश—भृंगावलि
रति—दाढ़	कुसुममाला—कंदर्पवाणपंक्ति, 10.20
विषयभोग—जिह्वा	कर्मफल—गरल
मंत्राक्षर—गरुड़	

लोकाख्यानों में ग्राम बोलियों का प्रयोग बड़ा रुचिकर लगता है। उनमें प्रचलित शब्दों के प्रयोग से कथा में एक नई जान सी आ जाती है। आधुनिक आंचलिक उपन्यासों में यह तथ्य विशेष उभरकर सामने आया है। यहां हम कुछ ऐसे शब्दों का उल्लेख कर रहे हैं

जो आज भी हिन्दी बोलियों में, विशेषतः बुन्देलखंडी में कुछ हेर-फेर के साथ प्रचलित हैं। इनके प्रयोग से कथानक में स्वाभाविकता दिखने लगी है—

अच्छ [4.13] अच्छा, स्वच्छ	ड ड [3.8] दाढ
अज्ज [2.10] आज	ढिल्ल [9.17] ढीला
अम्म [9.26] माता, अम्मा	ढोर [8.11] पशु
अलस [10.13] आलस	दाइज्ज [8.12] दाइजो, दहेज
अवस [1.11] अवश्य	दाढ़ियाल [5.8] दढ़ियल
उत्ख्व [4.8] उत्सव	देवल [10.8] देवालय
कइदिण [10.21] कई दिन	धुरि [11.11] धुरी
कंसार [5.7] कसेरा	नाइं [2.15] समान
कप्पड़ [11.7] कपड़ा	पास [2.12] पास, समीप
कप्पूर [17.12] कपूर	भाइजाय [10.8] भोजाई
कब्बाडिउ [10.12] कबाड़ी	महिल [5.7] महिला
कूर [8.13] विशिष्ट भोजन	रइ [15.13] राई
खइर [5.8] खैर	रंड [4.18] रांड, विधवा
खट्टउ [8.12] खटाई	रोक्क [9.8] रोकड़
गोट्ट [8.15] गोठ	लइय [8.14] लात
घरकज्ज [3.9] घरकाज	लंपड [7.5] लंपट
छुरिए [9.12] छुरी	लंबड [8.15] लम्बा
जिट्ठ, जेट्ठ [4.3] जेड	बइर [1.18] वैर
टंक [6.10] टांग	बहु [8.3] बहु
ठक्कुर [7.6] ठाकुर	वावार [8.8] वापार, व्यापार
डर [3.2] डर	सुण्णार [10.16] सुनार
डसिय [4.22] डसना	हिय [3.12] हिय, हृदय

यहां यह उल्लेखनीय है कि अपभ्रंश महाकाव्य और चरितकाव्य में साधारणतः कोई अन्तर नहीं माना जाता। वे सभी प्रायः पौराणिक कथा पर आधारित होते हैं। उन्हें कथा, चरित या पुराण कहा जाता है। विद्वानों ने इन चरितकाव्यों की सामान्य विशेषतायें इस प्रकार निर्धारित की हैं—

1. लोककथा या पौराणिक कथा पर आधारित ।
2. युद्ध तथा प्रेम का सुन्दर चित्रण ।
3. अतिशयोक्तिपूर्ण व कल्पनाश्रित घटनायें ।
4. साहसिक समुद्रयात्रायें ।
5. अलौकिक व अति प्राकृतिक शक्तियों का चित्रण ।
6. अन्तर्कथायें ।
7. शांतरस या अर्ध्यात्म रस का प्राधान्य ।
8. वैवाहिक सम्बन्ध ।
9. संधियों में विभाजन ।
10. मंगलाचरण, काव्य-लेखन-प्रयोजन, विषयवस्तु, पूर्व कवियों का उल्लेख, प्रशस्ति ।
11. कथाशैली ।
12. नगर, हाट, जलक्रीड़ा, वाद्य आदि का वर्णन ।

चरितकाव्य की इन सामान्य विशेषताओं के आधार पर हम जंबूसामिचरिउ में निम्नलिखित कथानक-रूढ़ियों को खोज सकते हैं—

1. मंगलाचरण ।
2. सज्जन-दुर्जन, सुकवि-अकवि वर्णन ।
3. पूर्वकवि प्रशस्ति, काव्य-रचना का उद्देश्य, विषयक्रम आदि ।
4. जम्बूस्वामी की माता के पांच स्वप्न और उनका फलकथन ।
5. श्रेणिक के साथ मृगांक पुत्री विलासवती के विवाह होने की भविष्यवाणी ।
6. नागदेवियों द्वारा चंग को पाताल-स्वर्ग में ले जाना ।
7. तंत्र-मंत्र-औषधि का प्रयोग कर स्तम्भित करना ।
8. सागरदत्त मुनि के दर्शन मात्र से शिवकुमार को संसार से वैराग्य हो जाना ।
9. पूर्वभव परम्परा का वर्णन ।
10. भवदेव के विवाहोत्सव में सहसा मुनिसंघ का आगमन और उसका अनिच्छुक होकर भवदत्त के साथ जाना ।
11. पति के पास भवदेव का आगमन, पथ-विचलन तथा पति के उपदेश से पुनरारूढन ।
12. धर्मोपदेश व संवाद ।
13. वैराग्योत्पत्ति के विविध कारण ।

14. जल-उद्यान-क्रीड़ा ।
15. जन्म-जन्मांतर की विचित्र शृंखला ।
16. चंडमारी व्यंतरी कृत उपसर्ग वर्णन ।
17. आकाश-युद्ध वर्णन ।
18. अन्तर्कथाओं का उलभाव ।
19. तीर्थंकरों के आगमन पर असमय में ही प्रकृति का पुष्पित हो उठना ।

जम्बूसामिचरित की मूलकथा को छोड़कर शेष कथानक रूढ़ियाँ अपभ्रंश के लगभग सभी चरितकाव्यों में उपलब्ध होती हैं। इन्हीं कथानक रूढ़ियों ने प्राचीन हिन्दी महाकाव्यों के विकास में भारी योगदान दिया है। अपभ्रंश चरितकाव्यों की ये सारी विशेषताएँ हिन्दी पौराणिक अथवा रोमांचक काव्यों में बखूबी दिखाई देती हैं। पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता, ढोला-मारू रा दूहा आदि काव्यों में ये रूढ़ियाँ और स्पष्टतर होती गयी हैं।

प्राचीन हिन्दी महाकाव्यों में कथानक-रूढ़ियों को समझने के लिए हमें मध्यकाल में उतरना होगा। जैसा हम जानते हैं, सप्तम शताब्दी में साहित्य की धारा दो भागों में स्पष्टतः विभाजित हो गई थी। प्रथम धारा सामंती छाया लिये हुए थी जिसमें विद्वान् राजा-श्रय पाकर संस्कृत-प्राकृत के आलंकारिक काव्यग्रन्थ लिख रहे थे और द्वितीय धारा ऐसी थी जिसमें कवि लोकाख्यानों का आधार लेकर धार्मिक काव्य की रचना कर रहे थे; दसवीं शताब्दी तक आते-आते यह प्रवृत्ति काफी अधिक लोकप्रिय हो गई और संस्कृत कवि भी लोकाश्रित कथाकाव्यों की शैली की ओर आकृष्ट हो गये। इस समय तक अपभ्रंश भाषा और साहित्य का भरपूर विकास हो चुका था। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में समान अधिकार रखनेवाले विद्वान् कवि ऐतिहासिक, पौराणिक और रोमांचक शैली में काव्य-सृजन करने लगे थे। इतिहास का पूर्वमध्यकाल तो अपभ्रंश भाषा और साहित्य के विकास के लिए स्वर्णयुग कहा जा सकता है। यह वस्तुतः संक्रांतिकाल था जिसमें अपभ्रंश के साथ ही हिन्दी भाषा और साहित्य का उदय हुआ। इस समय की हिन्दी भाषा और साहित्य पर अपभ्रंश भाषा और साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। पीछे उल्लिखित शब्दसूची से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अभिमत का उल्लेख करना इस संदर्भ में अप्रासंगिक न होगा जिसमें उन्होंने कहा है—“वस्तुतः छन्द, काव्यरूप काव्यगत रूढ़ियों और वक्तव्य वस्तु की दृष्टि से दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक का लोक-भाषा का साहित्य परिनिष्ठित अपभ्रंश से प्राप्त साहित्य का ही बढ़ाव है। यद्यपि उसकी भाषा उक्त अपभ्रंश से थोड़ी भिन्न है।” (हिन्दी साहित्य-उद्भव और विकास, प्रथम संस्करण, 1952, पृ. 43)।

हिन्दी साहित्य का आदिकाल तथा मध्यकाल यथार्थ में अपभ्रंश साहित्य से बहुत अधिक प्रभावित है। अपभ्रंश का चरितकाव्य अन्ततः पौराणिक वथाकाव्य ही है। हिन्दी के पृथ्वीराज रासो, कीर्तिलता, ढोला-मारू रा दूहा, पद्मावत, रामचरितमानस आदि काव्य इस

प्रकार के कथाग्रंथ ही हैं। सूफी कवियों का कथाशिल्प, मंगलाचरण, स्तुति, निन्दा, कवि-निवेदन आदि कथानक रूढ़ियों से ओतप्रोत हैं।

सारे भारतीय कथाकाव्यों का मूल उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति रहा है। मोक्षप्राप्ति तक पहुंचाने के लिए सांसारिकता का वर्णन आवश्यक हो जाता है। सांसारिकता से मुक्ति तक के मार्ग को तय करने के लिए कथाकारों ने कथाशिल्प की खोज की। निजन्धरी विश्वासों पर आधारित रूढ़ियां आईं, चमत्कारी कथाओं का सृजन हुआ, पशु पक्षियों का उपयोग प्रेम-कथाओं में किया जाने लगा, भविष्यवाणी और अभिशाप-संयोजन की योजना बनी, बारह-मासों का प्रयोग विरहवेदना के लिए हुआ, स्वप्नदर्शन, नागदेव-देवियों की आश्चर्यभरी गति-विधियां, तंत्रमन्त्र-औषधियों का प्रयोग, समुद्रयात्रा, वैराग्य के कारण, धर्मोपदेश और मुक्ति का धुआधार वर्णन किया गया और हीनाधिक रूप में उन्हें काव्य के फ्रेम में कस दिया गया। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के महाकाव्यों अथवा चरितकाव्यों से लेकर ये समस्त प्रबन्ध-रूढ़ियां हिन्दी के मध्यकालीन महाकाव्यों तक बेरोकटोक चली आयी हैं। बानगी के रूप में कतिपय यहां द्रष्टव्य हैं—

अपभ्रंश के महाकाव्य संधियों में विभक्त हैं। ये संधियां कड़वकबद्ध होती हैं। कड़वक पदबद्ध होते हैं और उनके साथ घत्ता जुड़े हुए रहते हैं। रासो का विभाजन समय, प्रस्ताव, पर्व या खण्ड में होता है जो संस्कृत महाकाव्यों का अनुकरण है। मंगलाचरण के रूप में अपभ्रंश काव्यों में तीर्थकरों का स्तवन रहता है। पृथ्वीराज रासो में भी प्रथम समय में इन्द्र, गरुड आदि देवों की स्तुति की गई है। पद्मावत और रामचरितमानस में भी यही प्रवृत्ति देखी जाती है।

वस्तुवर्णन में अपभ्रंश चरितकाव्यों में देश, नगर, ग्राम, शैल, उपवन, ऋतु, क्रीड़ा, विवाह, युद्ध आदि का वर्णन आता है। जंबूसामिचरित में इसे क्रमशः 1.6-8, 3.1-2, 2.4, 5.8-10, 1.7, 1.9-10, 4.13-17, 4.17-19, 8.9, 5.7-11 में देखा जा सकता है। पृथ्वीराज रासो, पद्मावत, रामचरितमानस आदि काव्यों में भी यह प्रवृत्ति आसानी से खोजी जा सकती है। पद्मावत का सिंहल नगर वर्णन, मृगावती का सरोवर वर्णन, रासो का राजोद्यान वर्णन, पृथ्वीचन्द्र चरित का चौरासी हार वर्णन, कीर्तिलता का अश्व वर्णन, युद्ध वर्णन आदि तत्त्व अपभ्रंश काव्यों से ही प्रभावित है। स्वयंभू ने रामकथा की तुलना नदी से की पर महाकवि वीर ने नदी और सरोवर की बात कहकर संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से तुलना के लिए करवे के जल को अधिक उपयुक्त समझा—

सरि-सर निवाण-ठिउ बहु वि जलु सरसु न तिह मणिज्जइ ।

थोवउ करयत्थु विमलु जणण अहिलासें जिह पिज्जइ ॥ 1.5.10-11 ॥

तुलसी ने भी रामकथा की तुलना सरोवर से की पर रासोकार ने रासोकथानक की तुलना राजसी सरोवर से करके उसे और अधिक महत्त्व दे दिया—

काव्य समुद्र कवि चन्द्र कृत मुगति समप्पन ग्यान ।

राजनीति बोहिथ सुफल पार उतारन गान । रासो 1.80

वीर ने अपनी कथा को पुनरुक्ति से दूर रखकर संक्षिप्त शैली का अनुकरण किया पर उसे एक विशिष्ट सभा अर्थात् विद्वज्जनों द्वारा ही रंजनीय माना—

पडिहाइ न वित्थरु अज्ज जणे पडिभणइ वीरु संकियउ मणे ।

भो भव्वबंधु किय तुच्छकहा रंजेसइ केम विसिट्ठसहा ॥ 1.5.6-7

इसी परम्परा को संदेशरासक (प्रथम प्रकाम, 20-23) तथा रासों में भी देखा जा सकता है। रासों की पक्तियां उद्धरणीय हैं—

कुमति मति वरसत निहि विधि बिना न शब्दान ।

तिहि रासो तु पंक्ति गुण सरसो व्रन्न रसान । 1.89

जंबूसामिचरिउ में संस्कृत प्राकृत कथाकाव्यों की परम्परा का अनुसरण कर आत्म-लघुता का प्रदर्शन बड़े सुन्दर शब्दों में किया है जिस पर महाकवि कालिदास का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। इसी को उन्होंने कड़वक के प्रारम्भिक पदों में श्लेषात्मक ढंग से अपनी प्रतिभामिश्रित विनम्रता को अभिव्यक्त किया है (1.3)।

रासों के कवि ने व्यास, शुकदेव, श्रीहर्ष, कालिदास, दण्डमाली, जयदेव की अभ्यर्थना की और स्वयं को पूर्व कवियों का उच्छिष्ट कथन करनेवाला मानकर अपनी लघुता का प्रदर्शन इन शब्दों में किया है—

गुरं सब्ब कव्वी लहू चन्द कव्वी ।

जिने दासियं देवि सा अंग हव्वी ।

कवी कित्ति कित्ति उकत्ती सुविषखी ।

तिनें की उच्चिण्टी कुवीचंद भव्वी । (1.10)

सज्जन-दुर्जन चर्चा में जंबूसामिचरिउ में वीर कवि ने कहा कि सज्जन की गुण-दोष परीक्षा में प्रवृत्ति ही नहीं होती पर दुर्जन गुणों का निराकरण और दोषों का प्रकाशन किया ही करता है (1.2)। रासों में सज्जन-दुर्जन चर्चा दो दोहों (1-51, 52) में ही पूरी कर दी है।

प्राचीन काव्यों में कवि का नाम प्रायः सर्ग के या काव्य के अंत में रखा करता था। अपभ्रंश काव्यों में इस परम्परा के स्थान पर कवियों द्वारा सर्ग के अन्तिम छन्द में अपनी नाम-मुद्रा अथवा किसी भी रूप में अपना नाम जोड़ दिया जाने लगा। जंबूसामिचरिउ में वीर कवि ने भी संघि के अन्त में अपना नाम किसी न किसी रूप में संयोजित कर दिया है जैसे— वीरु (1.18), अतुलवीरु (2.20), वीरपुरिसु (3.14), वीरस्सु (4.22), वीरुसंकिय झणो (5.14), वीरेहि (6.14), सवीरु (8.16), वीरनरु (9.19), एकल्लवीरु (10.26), वीर जिणु (11.15)। स्वयंभू ने सर्गान्त में सइंभूज्जन्ति थिय (20.12) छाईहल ने जिणु दिव्वदिट्ठी मणि भायइ (3.10), पुष्पदन्त ने भरह पुष्पदन्तुज्जलिय (22.21), कनकामर ने कण्थाभरसिवमाणिणि (1.24) इसी तरह अपने नाम का संकेत किया है। इसी तरह रासों के कवि ने 'समय' के अन्त में अपना नाम अवश्य दे दिया है—सुयनसुफल दिल्लीकथा कही क्ववरदाय (3.58)।

कवियों ने प्रकृति-चित्रण करते समय एक ओर जहाँ आलंकारिक शैली का उपयोग किया है वहीं भोजन, उद्यान, वनस्पति-जगत्, पशु-पक्षी जगत्, प्रसाधन सामग्री आदि का भी सुंदर वर्णन किया है। स्वयंभू ने पउमचरिउ में उद्यान का वर्णन करते समय पेड़-पौधों की एक लम्बी सूची दे दी (3.1)। जंबूसामिचरिउ में वीर कवि ने भी मंदार, कुंद, करवंद, (करौंदा) मुचकन्द, चंदन, ताल, लवली, कदली, द्राक्षा, पद्माक्ष, रुद्राक्ष, बेल, विचिकिल्ल, चिरिहिल्ल, सल्लकी, आम, जवीर, जंबू, कदम्ब, कनेर, करमर, करीर, राजन, नाग, नारंगी, न्यग्रोध, शतपत्र (4.16), तमाल, ताल, नागलता, मल्लि, उंबर, दाडिम, कुंद, मंदभार, सिंधार, देवदारु, चिरोंजी (4.21), अहिमार, खदिर, धव, धम्मण, बेरी, बांस, भठी, तिरिणिगच्छ, अजंग, रोहिणी, रावण, बेल, चिरिहिल्ल, अकोल्ल, धात्तभी, मल्लि, भल्लातकी, छोटी टिंबर, निघन, फणस, हिगुणी, कटहल, किरिमाल, शिफाकन्द, कनेर, कुटज, णिकार, ककुभ, वट ढौह, करील, करवंदी महुआ, सिंदी, निब, जंबूकिनी, नीबू, उंबर, (58) आदि वृक्षों के नाम यथास्थान उल्लिखित किये हैं। इन्हीं के साथ पशु-पक्षियों के नाम भी जुड़े हैं। इसी तरह वनस्पतियों की एक लम्बी सूची मिलती है। अपभ्रंश काव्यों की इसी रूढ़ि का पालन पृथ्वी-राज रासो में भी मिलती है [समयो 59-छन्द 6-10]। इसी प्रकार की परिगणन शैली पद्मावत में भी प्रयुक्त हुई है जहां प्रारम्भ में ही सिंहल द्वीप की अमराई का वर्णन करते समय विविध फलों, पक्षियों और सरोवरों का वर्णन मिलता है (दोहा-187)।

इसी प्रकार भोजन सामग्री का भी संकलन उपलब्ध होता है जो कथानक रूढ़ियों का अन्यतम अंग है। धनपाल ने जैसा भविसयत्तकहा (12.5) में परोसने का वर्णन किया है, जंबूसामिचरिउ में वीरकवि ने भी उसी तरह वैवाहिक भोज के अवसर पर परोसे जानेवाले विविध व्यंजनों के नाम दिये हैं (8.13)। पद्मावत (चित्तौर खंड) और पृथ्वीराज रासो [समय 63 छन्द 72-74] में भी इस परम्परा का निर्वाह किया गया है।

अपभ्रंश चरितकाव्य में विवाह, पुत्रोत्सव, समवशरण आदि के समय वाद्य-संगीत का भी वर्णन मिलता है। पुष्पदंत ने इस संदर्भ में नाटक, संगीत आदि का अच्छा शास्त्रीय विवेचन किया है (6.5-8)। जंबूसामिचरिउ में वीर ने भी सेना प्रयाण के समय इन वाद्यों की परिगणना की है (5.7)। पृथ्वीराज रासो में भी जयचंद की सभा में नाटकादि के आयोजन द्वारा 61वें समय में इस परम्परा का पोषण हुआ है।

इसी प्रकार विवाह, भविष्य-सूचक स्वप्न, तंत्र-मंत्र आदि से सम्बद्ध घटनाएँ भी जंबू-सामिचरिउ में मिलती हैं जिनका प्रभाव पृथ्वीराज रासो पर भी दिखाई देता है। चन्दवरदायी को प्रायः सरस्वती द्वारा स्वप्न में भूत-भविष्य की बातें ज्ञात हो जाती थीं। वह तंत्र-मंत्र का ज्ञाता भी है। अमरसिंह सेवरा तथा भट्ट दुर्गाकेदार के साथ उसका मंत्र-युद्ध हुआ है। आल्हाखंड में भी माडौ युद्ध, इन्दलहरण और ऊदलहरण के समय तंत्र-मंत्र शक्ति का प्रयोग किया गया है। भविष्यसूचक स्वप्न (नेपाली राजा की देवी का स्वप्न) शकुन-विचार आदि अन्य कथानक-रूढ़ियों का भी प्रयोग आल्हा खंड में हुआ है। पद्मावत में भी शकुन (विचार 135), वृक्ष, फल-फूल (28-29, 33-35, 187-188), स्वप्न-विचार (197-8), खाद्य पदार्थ वर्णन

(283-85), नृत्य वाद्य संगीत (527-29) आदि रूढ़ियों का पालन किया गया है। ढोला मारू रा दूहा में भी इन कथानक रूढ़ियों को भलीभांति देखा जा सकता है।

अपभ्रंश कथाकाव्यों के प्रभाव से रामचरित मानस भी बच नहीं सका। तुलसीदास ने लगता है उनका गहन अध्ययन किया था। अपभ्रंश की सारी कथानकरूढ़ियों का प्रयोग यहाँ पर भलीभांति हुआ है। आध्यात्मिक उद्देश्य की योजना भी इसमें जुड़ी हुई है। पौराणिक शैली का सुगठित विकास यहाँ द्रष्टव्य है। वंराग्य और शांत रस का सुन्दर वर्णन है। कडवक शैली का प्रयोग, अन्तकथाओं का संयोजन तथा रावण, विभीषण, दशरथ, कौशल्या आदि के पूर्वभवों का वर्णन मिलता है। शकुन (1. 303, 2. 204), पशु-पक्षी (2. 235, 3. 24), वाद्यगणना (1. 344) आदि जैसी कथानकरूढ़ियों का भी परिपालन रामचरित मानस में हुआ है।

इस प्रकार इस संक्षिप्त आलेख में हमने यह प्रस्तुत करने का आयास किया है कि जिन कथानकरूढ़ियों का प्रयोग जंबूसामिचरित में हुआ है उनका प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश चरित-काव्य तथा प्राचीन हिन्दी महाकाव्यों में भी किया गया है। जंबूसामिचरित की कथानक-सृष्टि में अनेक रूपों का हाथ रहा है और उन्हीं रूपों ने हिन्दी के आदि-मध्यकालीन साहित्य को भी प्रभावित किया है।



अन्यत्वानुप्रेक्षा

बज्जइ अण्ण कम्मपरिणामे,
 जणे को किज्जइ अण्णे नामे ।
 गोत्तु निबंघइ अण्णाहि खोर्णिहि,
 उप्पज्जइ अण्णण्णहि जोर्णिहि ।
 अण्णोणं जि पियरेण जणिज्जइ,
 अण्णइ मायइ उयरे धरिज्जइ ।
 अण्णु को वि एक्कोयरु भायरु,
 अण्णु मित्तु घणनेहकयायरु ।
 अण्णु कलत्तु मिलइ परिणंतहं,
 अण्णु जि पुत्तु होइ कामंतहं ।
 अण्णु होइ धणलोहं किंकरु,
 अण्णु जि पिसुणु होइ असुहंकरु ।
 अण्णु अण्णइ-अणंतु सचेयणु,
 सावहि अण्णु पवड्हियवेयणु ।

अर्थ—परिणामों के अनुसार यह जीव अपने से भिन्न पुद्गल-कर्मप्रकृतियों से बंधता है एवं लोगों में अन्य ही नाम से पुकारा जाता है । भिन्न-भिन्न पृथ्वियों में भिन्न-भिन्न गोत्र बांधता है और भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है । उत्पन्न करनेवाला पिता अन्य होता है और अन्य माता अपने उदर में धारण करती है । सहोदर भाई भी कोई अन्य होता है, अत्यन्त स्नेह करनेवाला मित्र भी अन्य होता है । विवाह करते समय पत्नी भी अन्य मिलती है और उसके साथ भोग करने के पश्चात् पुत्र भी अन्य ही जन्म लेता है । घन के लोभ के कारण नौकर भी अन्य हो जाता है और अशुभंकर शत्रु भी अन्य । जीव का अनादि सचेतन स्वरूप भिन्न होता है और कर्म-उदीरणा से युक्त सादि-सान्त स्वरूप भिन्न ।

जंबूसामिचरिउ के नारी-पात्र

—श्री श्रीयंशकुमार सिंघई



संस्कृत में काव्य-रचना की अर्हतावाले अस्खलितस्वर कवि वीर अपने पिता के आदेश से प्राकृत अर्थात् तत्कालीन लोकभाषा अपभ्रंश में¹ जंबूसामिचरिउ की रचना विक्रमाब्द 1076-1077 में पूर्ण करते हैं²। मेरा मानना है कि अब तक उपलब्ध जम्बूस्वामी विषयक सम्पूर्ण साहित्य में अपभ्रंश कवि वीरु की यह रचना केवल बेजोड़ ही नहीं प्रतिनिधि भी है। कवि ने अपने काव्यनायक जम्बूस्वामी के पूर्व भवों का उल्लेख कर उनके सर्वांगीण जीवन को जिस कलाचातुरी के साथ प्रस्तुत किया है—उससे पाठक स्वयं शृंगार और वीर रस की अनुभूतियों से आप्लावित होने लगता है किन्तु परिपाक में वैराग्य को ही हृदयंगम करने की प्रेरणा पा लेता है। वस्तुतः यह कवि की विचित्र कलाचातुरी ही है। “शृंगार और वीर रस के घरातल को मजबूत बनाकर वैराग्य को श्रेयस्कर व सार्थक बनाना” कोई साधारण बात नहीं है अपितु कवि की असाधारण सूक्ष्मभावली परिपक्व प्रतिभा का प्रद्योत है।

जैन शास्त्रों में अभिमंचित मनीषा के अनुसार इस काव्य में नायक जम्बूस्वामी प्रवहमान अचसपिणी में भरतक्षेत्र से मोक्ष जानेवालों में अन्तिम महामना हैं। इनका लोकजीवन राग पर विराग की विजय का अनूठा अलख जगाता है और आज भी भोगासक्त विषयानुरागी मानव-समुदाय को आभ्युदयिक पुरुषार्थ की सार्थक प्रेरणा प्रदान करता है, उन्हें सम्यक् सुख-शांति का सच्चा रास्ता प्रदर्शित कर देता है।

साहित्य जगत् की हर रचना अपनी प्रसूति के समय की विविध परिस्थितियों को अपने गर्भ में समाविष्ट रखती है। वह रचना ही क्या जो तत्कालीन समाज का दर्पण न बन पाये। जम्बूसामिचरिउ साहित्य-सागर की वह जीवन्त ज्योति है जिसे हम अथाह जलराशि के

स्वामी सागर में प्रदीप्त वड़वाग्नि के तुल्य मान सकते हैं। वड़वाग्नि की भांति ही जम्बूसामिचरिउ की मूल आत्मा भी राग पर विराग की विजय मशाल बनकर अपने अनुपम प्रभाव से अनेकविध वासनाओं के सागर जनजीवन में व्याप्त विविध उच्छृंखल प्रवृत्तियों को निरर्थक बताने के साथ-साथ यथार्थ जीवन की सच्चाई को असीम बनाये रखती है।

पुरा भारतीय विचारधारा के अधीन समाज को पुरुषायत्त माना जाता रहा है। अपने पौरुष एवं दायित्वनिर्वाह के बल पर पुरुष ने समाज में प्रधान स्थान पाया हो या वर्चस्व बनाया हो इससे मुझे कोई आपत्ति नहीं है किन्तु पुरुष के सामने नारी का महत्त्व कम करना कथमपि न्यायसंगत नहीं होगा। समाज में स्त्री और पुरुष दोनों का ही महत्त्व अपेक्षाकृत अहेय है। कहीं स्त्री प्रधान है तो कहीं पुरुष। स्त्रियों की अशिक्षा-परायत्तता व पुरुषों के पक्षपात ने स्त्रियों की प्रधानता को इतना दबाया या उसका इतना दमन किया कि समाज पुरुष-प्रधान कहलाने लगा। अपनी दमनात्मक विजय से पुरुष ने और अशिक्षा के कारण स्त्रियों ने समाज को पुरुष-प्रधान मान लिया हो पर सत्य के सहचार से बुद्धिजीवी इसे कतई स्वीकार नहीं करेंगे और समाज में स्त्री व पुरुष दोनों की ही अपेक्षाकृत प्रधानता अक्षुण्ण रहेगी।

जम्बूसामिचरिउ में कवि वीर आदि से अंत तक विविध प्रसंगों में नारी पात्रों का सफल निर्वाह करते हैं। शृंगार रस के निर्वाह में ही नहीं वीररसोद्भूति में भी कवि ने नारी चरित्र को अहमियत प्रदान की है³। उन्होंने आभ्युदयिक पथ पर प्रयाण हेतु भी नारी-पात्रों की उदात्तता बनाये रखी है। वीर कवि के अनेक नारी-पात्र विविध प्रसंगों में मर्यादानुरूप रागरंजन की उत्सुकता रखकर भी वैराग्य का महत्त्व सर्वोपरि समझते हैं। जम्बूकुमार के प्रव्रजित होने पर मातुश्री जिनमती का दीक्षा ग्रहण कर लेना तथा पद्मश्री आदि बहुओं का भी प्रव्रजित होकर आर्यिका के व्रत पालने लगना उपर्युक्त कथन की पुष्टि करता है⁴।

जम्बूसामिचरिउ में कुल 27 नारीपात्र हैं जिनमें से 26 नाम मूलकथानक से संबंधित हैं और एक अन्तर्कथानक से। अन्तर्कथानकों में चार-पांच नारियां बिना किसी नाम के भी अभिनीत हुई हैं⁵। मूलकथा में तो बहुत बड़ा परिवेश अनभिधानवाली नारियों की सूचना देता है। अभिधानोपेत 11 नारियों का दिग्दर्शन अन्यो द्वारा होता है, शेष नारी-पात्र ही किसी न किसी रूप में अभिमंचित होते रहते हैं। सभी नारी-पात्रों का निर्वाह शालीनतामिश्रित मर्यादानुकूल प्रक्रिया के तहत हुआ है। सुस्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए ग्रंथोत्प्लेखानुक्रम से उनका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है —

सोमशर्मा—वर्द्धमान ग्राम निवासी, विशुद्ध कुल में उत्पन्न व शुद्ध शील से सम्पन्न शास्त्रों के वेत्ता आर्यवसु नामक सूत्रकंठ ब्राह्मण की कृतपुण्या गृहिणी ही सोमशर्मा है। यह सुन्दर एवं रमणीय शरीरवाली है। प्रगाढ़ पतिव्रता होकर यह सदा ही पति के स्नेह में अनुरक्त रहती है। व्याधिपीडित पति ने जब विष्णु का नाम लेकर चिता में प्रवेश कर लिया तो यह भी उनके मरणवियोग को सहन न कर पाने से उसी चिता में ग्राहृत होकर मर जाती है। काव्य के

चरितनायक जम्बूसामि के उल्लिखित प्रथम भव के जीव भवदेव की माता भी यही है। इसका प्रथमपुत्र भवदत्त भी है जो काव्य का एक महत्त्वपूर्ण पात्र है⁶।

नागदेवी—यह वर्द्धमान ग्राम के स्वकुलभूषण द्विज दुर्मर्षण की प्रिय भार्या⁷ और भवदेव की परित्यक्ता पत्नी नागवसू की माता है।

नागवसू—यह नागदेवी की पुत्री और भवदेव की परिणीता पत्नी है जो विवाह के समय नीलकमलदल जैसी कोमल, श्यामलांगी नवयौवन की लीला से ललित, पतली देहवाली मुग्धा⁸ नायिका की भांति अत्यधिक सौन्दर्य-सम्पन्न रही होगी तभी तो प्रव्रजित भवदेव अर्हनिश उसका ध्यान करता रहता है⁹।

भवदेव के दीक्षा ले लेने के कारण नागवसू परित्यक्ता हो गई किन्तु उसने पतिधर्म का निष्ठापूर्वक पालन करने हेतु पुनः विवाह नहीं किया और भवदेव के ही घर पर रहकर धर्मध्यान में समय बिताया तथा घर के द्रव्य को धर्मकार्य में लगाने की भावना से ग्राम के बाहर एक सुन्दर चैत्यगृह निर्मित करा दिया¹⁰। संयोग से इसी चैत्यगृह में नागवसू के प्रति आसक्त व भटके हुए दीक्षित भवदेव आते हैं। नागवसू उन्हें प्रणाम करती है। पहचान न पाने के कारण वे नागवसू से सही सारा वृत्तान्त पूछते हैं¹¹।

नागवसू ने बातों-बातों में ही जान लिया कि यह मेरा पति भवदेव है जो व्रतों से डिग गया है। इससे वह परमविषाद को प्राप्त हुई और सोचने लगी—‘देखो! इस राग की परिणति का निवारण कौन कर सकता है, यह मनुष्य आड़े-टेढ़े व सड़े-गले चमखंड से किस प्रकार विकारग्रस्त होता है¹²?’

धर्मानुरागिणी विवेकशीला नागवसू अपनी आर्योचित उदात्तता के अनुसार तत्काल अपना परिचय नहीं देती अपितु यह संकल्प करती है कि मैं इसकी पापमति को नष्ट करूंगी¹³। वह बड़ी गंभीरता के साथ सविनय तत्त्वज्ञानप्रेरक उपदेश¹⁴ देती है तथा नागवसू का सौन्दर्य बताने के बहाने परोक्षतः अपनी घृणित रोगग्रस्त, कृश गात्रवाली, भोगवासना के लिए सर्वथा अयोग्य शारीरिक स्थिति का चित्रण¹⁵ कर देती है। जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि भवदेव का मोह टूट गया है और उसमें सम्यक् निःश्लथभाव भी प्रकट हो चुका है तो वह अपना परिचय देती है—‘हे नाथ! मैं ही तुम्हारी परित्यक्ता गृहिणी नागवसू हूँ¹⁶।’ भवदेव लज्जित होते हैं और प्रायश्चित्तादिपूर्वक¹⁷ सच्चे मुनि बन सार्थक तपश्चरण करते हैं¹⁸।

नागवसू ने ‘वैराग्य या अम्युत्थान मार्ग पर आरूढ़ होने का पुरुषार्थ करने में पुरुष के लिए स्त्री बाधक है’—इस जनसाधारणीय धारणा को निराधार सिद्ध कर दिया है। नागवसू के उद्बोधन व विवेक ने बाहर से योगी पर मन से भोगी भवदेव को अन्तर्बाह्य सच्चा योगी बनाने में जो अहम भूमिका निभाई है उससे स्त्रीचरित्र में निहित उदात्तता गौरवान्वयी हो उठी है। वस्तुतः नागवसू यहाँ अत्यन्त धार्मिक, सहनशील, उदात्त, प्रत्युत्पन्नमति व आदर्श भारतीय नारी के रूप में प्रकट हुई है और प्रकृत काव्य का अलंकरण बन गई है।

यशोधना—यशोधना विदेहस्थ पुष्कलावती देश की पुंडरिकाणी नगरी के राजा वज्रदंत की प्रमुख रानी है जो स्वच्छ कमल जैसे मुखवाली कमलदल के समान नेत्रोंवाली, कमल स्रष्टा ही उज्ज्वल शरीरवाली स्वयं कमला अर्थात् लक्ष्मी के समान बतायी गई है। भवदत्त का जीव मरकर स्वर्ग में देव हुआ था वह पुनः सागरचन्द्र के रूप में इसी महादेवी के गर्भ से जन्म लेता है¹⁹। कथाप्रवाह में सागरचन्द्र की माता का उल्लेख करने हेतु ही यशोधना का प्रसंग उपस्थित हुआ है।

वनमाला—वनमाला विदेहस्थ पुष्कलावती देश में ही वीताशोक नगरी के चक्रवर्ती राजा महापद्म की छयानवे हजार रानियों में प्रमुख रानी है, जो अपनी मुखकांति से चन्द्रमा को जीतनेवाली बतायी गई है²⁰। भवदेव के जीव शिवकुमार की माता²¹ के रूप में इसका कथन करना पड़ा है।

जयभद्रा, सुभद्रा, धारिणी और यशोमती—ये चारों ही चंपानगरी के समृद्ध व सुचिंत श्रेष्ठी सूर्यसेन की पत्नियां हैं²²। पूर्वोपाजित पाप के कारण जब इनका पति सूर्यसेन सैंकड़ों व्याधियों से ग्रस्त होने से अपनी पत्नियों के प्रति शंकालु व ईर्ष्यालु होकर अमानवीय कृत्य करने लगा तो दुःखी होकर वे परस्पर कहती हैं—“यह दुष्ट स्वभाव-वाला दुर्जन मर क्यों नहीं जाता जो चाचा, मामा जैसे पूज्यजनों को हमारा शयनीय समझने लगा है²³।” बसंत ऋतु आने पर सूर्यसेन ने अपनी इन चारों ही पत्नियों को अलंकृत करके यात्रोत्सव में भेजा। वहाँ भी चारों ने नाग की पूजा कर अपने हृदय का दुःख कहा कि हे परमेश्वर ! बस इतना करना कि सूर्यसेन के समान कांत मत देना²⁴। फिर वे वहीं स्थित जिनमंदिर में अर्हंत भगवान् व सुमति नामक मुनिपुंगव की वंदना करती हैं और मुनिश्री से श्राविका के व्रत ले लेती हैं²⁵। व्याधि संतप्त सूर्यसेन के मर जाने पर चारों ही अपने द्रव्य से जिनभगवान् का मंदिर बनवाती हैं और सुव्रता नामक आर्यिका से दीक्षा लेकर तपश्चरणा करने लगती हैं। अंत में समाधिपूर्वक मरण कर वे विद्युन्माली देव की क्रमशः विद्युत्वती, विद्युत्प्रभा, आदित्यदर्शना और सुदर्शना नाम की प्रियायें बन जाती हैं²⁶। जो आगे के भव में जम्बूकुमार की चार पत्नियों क्रमशः पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री के रूप में जन्म लेती हैं²⁷।

श्रीसेना—यह मगधदेशस्थ हस्तिनापुर के राजा विश्वंधर की रानी और विद्युच्चर की माता²⁸ है।

कामलता—यह राजगृह नगर में तरुणों की प्यारी वेश्या है। काम की लता के समान सुन्दर होने से इस कामिनी ने अपना कामलता नाम सार्थक कर दिया है। चौरकर्म में प्रवीण विविधकलाविद् विद्युच्चर की प्रेयसी भी यही है²⁹। काव्य में इसकी कोई विशिष्ट भूमिका नहीं है।

गोत्रवती—यह राजगृही के धनदत्त नामक संतोषी वणिक् की पत्नी व जम्बूस्वामी के पिता अरहदास की माता है³⁰।

जिनमती—यह श्रेष्ठी अरहदास की उद्दाम लावण्यवती कुलवधू है³¹ तथा कवि के चरितनायक जम्बूकुमार की माता के रूप में चर्चित हुई है। चरमशरीरी व तद्भवमोक्षगामी जीव की

माँ बनने का सौभाग्य ही इसके सातिशय पुण्य को प्रकट कर देता है। जिनमती अत्यधिक पुत्रानुरागिणी, उदार व निडर पात्र के रूप में चित्रित हुई है, उसमें धार्मिक विचारोपेत एक आदर्श भारतीय नारी के सभी गुण सुस्पष्ट प्रतिफलित होते हैं।

पुत्र जम्बूकुमार से दीक्षा लेने का विचार सुनकर वह मूर्च्छित हो जाती है। पुनः सचेत होने पर पुत्र को दीक्षा न लेने के लिए समझाती है और लोकाचार का उपदेश भी देती है³²। पद्मश्री आदि वधुएं कुमार को दीक्षा न लेने के लिए राजी कर पाती हैं या नहीं—यह जानने की उत्कंठा उसे अत्यधिक है। वह जलती हुई भूमि के समान दीर्घ और उष्ण श्वास लेती हुई बार-बार वासगृह का द्वार देखती है और जानना चाहती है कि क्या कुमार अभी भी वैसे ही दृढप्रतिज्ञ हैं³³? उसे नींद कहाँ! वह तो इधर-उधर घूमती रहती है और चोरी के अभिप्राय से आये विद्युच्चर को भी वह कहती है—हे पुत्र! यदि तू मेरे पुत्र को दीक्षा लेने से रोक ले तो तुझे जो रुचे वह ले जाना³⁴। पुत्र के दीक्षित होने पर स्वयं भी सुप्रभा ग्रायिका के पास दीक्षा ग्रहण कर लेती है³⁵।

पद्मावती—यह राजगृही के जिनभक्त श्रेष्ठी समुद्रदत्त की प्रियतमा पत्नी है। पद्मश्री की माँ³⁶ होने से इसे काव्य में स्थान मिला है।

कनकमाला—यह कनकश्री की माता और कुबेरदत्त श्रेष्ठी की कनक (स्वर्ण) माला के समान सुन्दर कांता के रूप में उल्लिखित हुई है³⁷।

विनयमाला—यह विनयश्री की माता और वैश्रवण नामक श्रेष्ठी की पत्नी है³⁸।

विनयमती—कुवलय अर्थात् नीलकमल के समान नेत्रोंवाली धनदत्त की भार्या और रूपश्री की माता होने से इसका उल्लेख हुआ है³⁹।

पद्मश्री, कनकश्री, विनयश्री और रूपश्री—ये चारों ही क्रमशः समुद्रदत्त, कुबेरदत्त, वैश्रवण और धनदत्त श्रेष्ठियों की सर्वगुणसम्पन्न व अतिशय सौन्दर्यवती कन्यार्ये हैं। जम्बूकुमार के साथ इनका परिणय होना पूर्व पैज (प्रतिज्ञा) के अनुसार सुनिश्चित था अतः इन्हें नाना विद्यार्ये सिखायी गईं। इन्होंने तीनों भाषाएं (संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—टिप्पणीकार) सीखीं। लक्षणशास्त्र (व्याकरण) और लक्ष्य अर्थात् साहित्यशास्त्र को पढ़ा। दर्शनशास्त्र व न्यायशास्त्र के साथ तर्कशास्त्र को सुना। छंद-अलंकार व निघण्टु का ज्ञान किया और धर्म, अर्थ व काम के प्रशस्त साधनों को भी जान लिया। वीणादि वाद्य-वादन में निपुण होकर गायन और नृत्यकला में कुशलता प्राप्त की। और भी बहुत कुछ इन्होंने सीखा जिन्हें कहने में कवि अपने आप को असमर्थ समझ रहा है⁴⁰। चारों ही कन्याओं के सौन्दर्य-वर्णन में कवि ने अत्यधिक रुचि दिखाई है।

चारों ही कन्यार्ये अपने कुल की मर्यादा के अनुरूप उदात्त विचारों से ओतप्रोत हैं, हीन आचरण की कल्पना तक उनमें नहीं है किन्तु अपने रूप और ज्ञान पर अत्यधिक विश्वास उन्हें अवश्य है, इसे गर्व की संज्ञा भी दी जा सकती है। वे अपने पितृजनों द्वारा रखे प्रस्ताव—'जम्बूस्वामी के अलावा किसी अन्य से विवाह कर लो'—को ठुकरा देती हैं तथा कहती हैं कि एक दिन के लिए भी यदि कुमार विवाह करने को राजी हो जायें तो फिर हम उन्हें वश में कर लेंगी।

पद्मश्री कहती है—निर्मल गुणों और महान् गोत्रवाली कुलकन्याओं का निश्चय से एक ही पति होता है, लोक में एक ही जननी होती है, एक ही तात होता है और एक ही देव होता है—वीतराग जिन ।.....यदि प्रियतम हम लोगों से परिणय न कर वैरागी होते हैं तो हों किन्तु यदि किसी प्रकार विवाह घट जाये और हम लोग उनकी दृष्टि में चढ़ जायें तो वे हम लोगों के चंचलनेत्रों के वशीभूत होकर आजीवन हमारे प्राणवत्त्व बने रहेंगे 41 ।

अन्य कुमारियां भी कहती हैं—परिणय कर लेने पर उन्हें व्रतप्रधान तपोवन से तो दूर ही समझिये⁴² । वे अपनी सौन्दर्यगत विशेषताओं का भी इस स्थल पर वर्णन करती हैं ।

विवाह हो जाने के बाद वासगृह में जंबूकुमार के साथ जब ये होती हैं तो कुमार को अपने हाव-भाव व सुन्दर-सुडौल अंगों के प्रदर्शन से वशीभूत करना चाहती हैं, किन्तु जब सफलता नहीं मिलती तब चुभनेवाले वाक्यों का प्रयोग करने लग जाती हैं और अपनी कार्य-सिद्धि के लिए युक्तियुक्त उदाहरणात्मक कथानक सुनाने लगती हैं ।

किन्तु फिर भी जब वे कुमार को दृढ़चित्त देखती हैं तो पद्मश्री लज्जापूर्वक हंसती हुई अपनी सपत्नियों से कहती है—हे सुन्दरी ! भुजाओं को सिकोड़े पागल सरीखी कंत की यह कोई अपूर्व ही भंगिमा है । क्या कहीं नपुंसक को भी मदन के बाण लगते हैं ? क्या अंधे को नृत्योत्सव अच्छा लग सकता है ? क्या कोई बहरा संगीत सुन सकता है ? इस अविवेकी कंत को तो भूत लग गया है जो तपस्या के क्लेश से स्वर्ग चाहता है ।⁴³

अपने पति को दीक्षा लेने की इच्छा से विरक्त करने के लिए वे दृष्टान्त-रूप में कई कथानक सुनाती हैं जिनका प्रत्युत्तर जंबूकुमार भी कथानकों को सुनाकर ही देता है ।

इस प्रकार हमें यहा चारों ही नारी-पात्रों की चतुराई, प्रतिपादनदक्षता, तर्कक्षमता और सौन्दर्यसम्पन्नता का बोध हो जाता है किन्तु यह कतई नहीं भूलना चाहिये कि पति को रिभानेरूप कार्यसिद्धि के लिए उन्होंने यह रुख अपनाया है । वस्तुतः वे धर्मरुचिशून्य व विषय-भोग-लम्पट नहीं हैं, क्योंकि उनके पति कुमार जब दीक्षा लेने के विचार पर दृढ़ रह कर प्रव्रजित हो जाते हैं तो वे भी उनके ही श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण कर विषयसुख-वांछारहित तपश्चरण अंगीकार करके⁴⁴ आदर्श प्रस्तुत करती हैं ।

मालतीलता—यह केरलपुरी के राजा मृगांक की पत्नी तथा सहस्रश्रृंग पर्वत पर रहनेवाले विद्याधर गगनगति की बहिन है । मालतीलता की बेटी ही विलासमती है ।⁴⁵

विलासमती—यह मृगांक की पुत्री व गगनगति नामक विद्याधर की भाञ्जी है । अत्यन्त रूप-वती होने के कारण इसके श्रृंगार का कारीगर अनंग ही माना गया है..... महर्षि के ज्ञानोप-देश व आदेश से मृगांक ने यह कन्या राजा श्रेणिक (कन्ननृपति) को देना निश्चित कर लिया है⁴⁶ । हंस द्वीप का रत्नशेखर विद्याधर इस कन्या को चाहता है । साम-दाम और भेद से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होने पर वह दण्डक्रिया अर्थात् युद्ध प्रारंभ कर देता है ।⁴⁷ यही वह रत्नशेखर है जिसे पराजित करने में कवि अकेले जंबूकुमार को ही समर्थ बताकर उनके वीरो-चित्त गुण का प्रदर्शन करता है । काव्य में विलासमती का अपना कोई अनूठा वैशिष्ट्य रहा होगा ऐसा ज्ञात होता है ।

विभ्रमा—यह वाराणसी के राजा लोकपाल की प्रमुख रानी है। इसका रंग-रूप तो अम्बरा जैसा है किन्तु चाल-चलन (चरित्र) पट्टमहिषी के सर्वथा विपरीत व्यभिचरित है। शत्रु पर विजयाकांक्षी राजा जब देशान्तर जाता है और युद्ध में पांच वर्ष लग जाते हैं तब यह विभ्रमा अपने विशिष्ट भ्रमवाले नाम को सार्थक करती हुई, कामवासना से जलती हुई अपनी एक बूढ़ी दासी से अपनी वासना को तुष्ट करने के लिए कोई उपाय करने को कहती है।⁴⁸ विभ्रमा का कथन उसके निकृष्ट चरित्र को स्पष्ट करता है।

इस प्रकार अभिधानोपेत स्त्रियों के परिचय से ज्ञात होता है कि कामलता और विभ्रमा इन दो स्त्रियों को छोड़कर शेष ने भारत की आर्य मर्यादा के अनुरूप अपने कुलधर्म का पालन करते हुए रूप, बुद्धि और शील की सात्विकता से सम्पूची स्त्री जाति को गौरव प्रदान किया है। कामलता तो स्पष्टतः वेश्या है, वेश्याबाट में रहती है अतः संभव है कि अपने वंशानुगत संस्कार व व्यापार के बशीभूत होकर ही उसे इस प्रकार के दुष्कर्म में प्रवृत्त होना पड़ा हो किन्तु विभ्रमा का दुश्चरित्र ऐसे किसी कारणवश नहीं है, उसकी भावनाएं ही विकृत हुई हैं। वस्तुतः विभ्रमा ने अस्थिर व पराधीन वासना सुख अर्थात् लोकनिन्द्य संभोग की चाह करके सम्पूर्ण स्त्री जाति को कलंकित कर दिया है, स्त्री के सतीत्व का गौरव धूमिल कर दिया है भले ही वह अपनी चाह पूर्ण न कर पायी हो।

लगता है कि जम्बूसामिचरिउ के कर्ता कवि वीर शृंगारप्रिय हैं और स्त्रियों के प्रति अपनी सहानुभूति अवश्य रखते हैं। स्त्रियों के अपरिहार्य सामाजिक महत्त्व को पुनर्स्थापित करना उन्हें अभीष्ट है। तभी तो वे अपने काव्य में उनके चरित्रों का सातत्य बनाये रखते हैं। ग्रंथारम्भ में मगधदेश का वर्णन भी वे स्त्री के बिना नहीं कर सके हैं। उन्होंने मगध के सौंदर्य को यत्किंचित् स्त्री-सौन्दर्य से उपमित किया है।

पूर्वविदेह के पुष्पकलावती देश में स्थित पुडारिकिणी नगरी की शोभा के वर्णन में भी वे ऐसा ही करते हैं।⁴⁹

कवि अपने चरितनायक जम्बूकुमार के अतिशय सौंदर्य व वैशिष्ट्य को व्यक्त करने के लिए बड़ी चतुराई से वहां की स्त्रियों को पाठक के सामने ले आता है—'कुमार के दर्शन से नमर की नारियां मकरध्वज के शर-प्रहार से क्षुब्ध हो गईं और विरह से कांपने लगीं व शून्यभाव से बोलीं कि कहीं मेरा हृदयरूपी धन इस कुमार ने ले तो नहीं लिया है। उन्हें बड़ा विस्मय भी है कि दुःख का वेदन करानेवाला कोई दूसरा मन उनमें प्रविष्ट कर गया है क्या? किसी कामिनी का विरहानल प्रदीप्त हुआ जो अश्रुजल पूर बनकर कपोलों पर लुढ़क आया, हाथ घुमाने से किसी का हाथी दांत का चूड़ा हाथ से छिटककर चूर-चूर हो गया, किसी का शरीर पर लगाया हुआ लाल-चन्दन का लेप तुरन्त ही विरहताप के कारण छम-छम करके चटक गया, कोई रक्तचन्दन से सींची जाती हुई भी सूखने लगी, कोई उतावली के कारण गले में हार नहीं पहन सकी और एक नेत्र में काजल लगाना ही भूल गई, कोई चूड़ी को हाथ में पहनते हुए केशपाश फहराये तोरण-स्तम्भ से भिड़ गई तथा कोई बाला कुमार से कहने लगी—अरे! जरा ठहर, मैं तेरे रूप की अनुकृति से अनंग को चित्रित तो कर लूं।'⁵⁰

मृगांक की सहायता के लिए जाते हुए राजा श्रेणिक केरलपुरी की तरफ ससैन्य ब रहा है। विन्ध्याटवी लांघकर जब वह विन्ध्यप्रदेश में प्रविष्ट होता है तब कवि विन्ध्यप्रदेश के सौन्दर्य का वर्णन करना नहीं भूलता। सौन्दर्यवर्णन के प्रसंग में भला वह स्त्रियों को कैसे मुला सकता है—यहां की कृषक बहुएं इतनी आकर्षक हैं कि उनकी छोक्कार ध्वनि से आकृष होकर पथिक तो क्या शुक और मृग भी एक पग आगे नहीं बढ़ पाते। गोपियां गीत गातीं तथा नर्मपुर नामक पट्टन में रहनेवाली प्रियतमों की लाड़लियाँ कुल-बालिकायें गिरितनय के सौभाग्य को भी जीत लेती हैं।⁵¹

पद्मश्री आदि कन्याओं और कुमार के पितृजनों ने धनराशि में शुक्ल (पद्म) पक्ष की अक्षय तृतीया के दिन इनका विवाह-लगन निश्चित किया। पांचों ही गृहों में विवाह की तैयारियां होने लगती हैं, हंसी-खुशी का माहौल बनने लगता है तो कवि सारी पृथ्वी पर ही प्रसन्नता बिखेरने हेतु विलास करते-मदमाते बसंत को ले आता है। उसका बसंत ऐसे ही नहीं आ जाता अपितु विविध प्रदेशों की ललनाओं-स्त्रियों को प्रभावित करते आता है—

“विद्याधर मानिनियों का मानमर्दन करनेवाला सुहावना मलय पवन चलने लगता है तो केरलियों की कुटिल केशरचना को सरल बनाता हुआ, विरहिणी तैलगिनियों के निःश्वास उत्पन्न करता हुआ, सद्माद्रि के सूखे बांसों को रगरगाता हुआ, कर्णाटियों के कर्णावतंसों को कणकणाता हुआ, कुंतलियों के कुन्तलभार को स्खलित करता हुआ, बौर लगे हुए सहकार वृक्षों को कषायला बनाता हुआ तथा चिकिल्ल के फूलों को पाटल-पुष्पों से मिलाता हुआ बसंत आता है।⁵²

बसंत के आते ही नागरजन नन्दनवन में पहुंच जाते हैं। जम्बूकुमार भी अन्य अन्य कुमारों के साथ लीलापूर्वक कामिनियों के बीच कामदेव के समान क्रीड़ा करते हैं।

जंबूसामिचरिउ के स्त्री-परिवेश से यह धारणा नितान्त पुष्ट होती है कि स्त्रियां समाज में अपना अपरिहार्य रखती हैं। उनके बिना लोकव्यवहार का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा, लोकव्यवहार का क्रियान्वयन ही या सृष्टि का संसरण, स्त्री-सहयोग के बिना असंभव ही है। स्त्री समाज की सर्वविध आवश्यकताओं को पूरा करने में अपना सराहनीय योग देती है। शारीरिक श्रृंगार के कारण यदि भोगवासना की दृष्टि ने स्त्री को समाज में अपरिहार्य महत्त्व दिया है तो स्त्री ने भी स्वयं अपनी योग-भावना के बल पर अभ्युत्थानिक पुरुषार्थ कर अपने गौरव को कम नहीं होने दिया है। समाज के उन्नयन में स्त्री का त्यागमिश्रित स्नेह कथमपि अनावश्यक नहीं माना जा सकता है। वस्तुतः स्त्री ही समाज को नाना विसंगतियों के दल-दल से ऊपर उठाये रखती है अन्यथा सामाजिकों को सुसंस्कारों से मंडित करने का दायित्व कौन संभाल सकता है?

1. अखलिय सर सक्कयकइ कलिबि आएसिउ सुउ पियरें ।

पाययपबंघु बल्लहु जणहो बिरइज्जउ कि इयरें ॥

जंबूसामिचरिउ 1.4

2. विक्रमनिबकालाओ छाहत्तरदससएसु बरिसाणं ।
 माहम्मि सुद्धपक्खे.....॥ 2 ॥
 बहुरायकज्ज.....।
 बीरस चरियकरणे एक्को संबच्छरो लग्गो ॥ 5 ॥

प्रशस्ति से उद्धृत

3. का वि कंत संदेसइ कंतहो, चूडुल्लयहो हत्थि मणिकंतहो ।
 कोडु न मण्णमि एक्कु जि भल्लउ, अरि करिदंतघडिउ बलउल्लउ ।
 अक्खइ का वि कंत भत्तारहो, कयकिणियहो न सोह इह हारहो ।
 आणहि तिक्खखग्गपहनिम्मल, सइं हयकुंभिकुंभमुत्ताहल ।
 बोल्खइ का वि कण्ण गयखेवही, अवसरु अज्जु सामिरिण्छेयहो ।
 होइ न होइ एण भडभीसें, पहुरिणमोयणु एक्कें सीसें ।
 तो वरि हउं मि जामि इउ कारेवि, नररूवेण खग्गफरु धारेवि ।
 जंपइ का वि कंत न सहिज्जहो, दिट्ठए परबले पढमु भिडिज्जपहो ।
 घत्ता-बोल्लइ को वि भडु महु कंते धडु पेक्खिज्जहि रणे सल्लंतउ ।
 अगलियखग्गफरु करिलुणियकरु रिउदंतिदंते भुल्लंतउ । 6.3
4. 10.2
5. 9.8,10.8-10, 10.13.10-14 ।
6. 2.5 ।
7. 2.11 ।
8. नीलकमलदलकोमलिए सामलिए नवजोव्वणलीलाललिए पत्तलिए ।
 खवरिद्धिमण्हारिणिए हा मइं विणु मयणं नडिए मुद्धडिए । 2.15
9. दिवि दिवि चितइ कंत हे सुंदरि, बट्टइ का वि अबर जोव्वणसिरि । 2.14
10. धरे आसि ज संठियं तुम्ह दव्वे, मए दिण्णयं धम्मकज्जम्मि सव्वं ।
 इमं सुन्दरं कारियं चेइगेहं..... । 2.19
11. 2.17
12. गय परमविसायहो परिणइ रायहो पेक्खहु केण निवारियइ ।
 जहि अहुवियड्ढे चम्महो खडें माणुसु केम वियारियइ । 2.17
13. निन्नासमि आयहो पावमइ..... । 2.18
14. धण्णो सि सवण तिहुवणत्तिलउ, जिणदंसणु पाविउ सुहनिलउ ।
 तरुणत्तरो वि इंदियदवणु, दीसइ पइं मुयवि अण्णु कवणु ।
 परिगलिए वयसि सव्वहो वि जइ, विसयाहिलाससिहि उबसमइ ।
 कच्चें पल्लट्ठइ को रयणु, पित्तलए हेमु विक्कइ कवणु ।
 सग्गापवग्गसुहु परिहरइ, को रज्जरवि नरइ पईसरइ ।
 को महिलई कारणे लेई दिसि, सज्जायहाणि को को कुणइ रिसि । 2.18

15. जा पुच्छिय तुम्हहि नायवसु, सुणु पयडमि तह लायणरसु ।
 नालियरसरिसु मुंडियउ सिरु, लालाविलु मुहु घम्परियगिरु ।
 नयण इं जलबुब्बुयसरिसमइं, नियथाणु मुअवि तालु वि गयइं ।
 चिच्चुयनिड्डालकबोलतयइं, रणरणाहि नवरि बायाहयइं ।
 निम्मंसु निलोहिउ देहघरु, चम्मेण नद्ध हड्डुह नियरु । 2.18
16. अहं चैय ते गेहिणी नाह मुक्का । 2.19
17. सुणोऊण चित्तंतरं लज्जमाणो 2.19
18. पहु अज्जु म बंकहि पुणु दिक्खंकहि संसारहो उव्वेइयउ । 2.19
19. 3.2-3
20. 3.3
21. 3.3, 3.4
22. 3.10
23. 3.11
24. परमेसर एत्तडउ करिज्जहि, सूरसेणसमु कंतु म दिज्जहि । 3.13
25. 3.13
26. 3.13
27. 8.5
28. 3.14
29. 3.14
30. 4.2
31. 4.5
32. 8.7
33. तावेत्ताहि जम्बूकुमारजणणि, परिसुसइ डज्जमाणो व धरणि ।
 घरु पंगणु मेल्लइ बार-बारु, पुणु जोबइ सुयबासहरदारु ।
 एत्ताहि कुमारु किर दढपइज्जु, बहुवाहु चउक्कु वि कलियविज्जु ।
 किं अज्ज वि सुउ तवचरणबुद्धि, किं वट्टइ बहुमुहरायलुद्धि । 9.14
34. 9.15
35. 10.21
36. 4.12
37. 4.12
38. 4.12
39. 4.12

40. पइ होसइ जाणिवि भुअणसार, नीसेससत्थसंपत्तपारु ।
 इय कज्जे कोउह्लेए ताउ, नाणाविह विज्जउ सिक्खियाउ ।
 भासातय-लवखणु लक्खु मुणुउ, दंसणनएहि सहुँ तक्कु मुणुउ ।
 छंदालंकार निघंटसत्थु, धम्मत्थ-कामकारणु पसत्थु ।
 गाएव्वउ नक्केव्वउ सच्चित्तु, वीणाइवज्जु जाणुउ विच्चित्तु ।
 अवराइं मि मुणियइं जाइं जाइं, को लक्खेवि सक्कइ ताइं ताइं । 4.12
41. निम्मलगुणगोत्तविसालियाहं, पइं एककु जि किर कुलबालियाहं ।
 एककु जि जग्गेरि जगि एकक ताउ, एकको जि देउ जिणु वीयराउ ।
 परिणयणु अहं न करंतु कंतु, जइ परतउ लेइ विराववंतु ।
 घत्ता-अहपुणु जइ विराहु घडइ दिट्ठहे चडइ अच्चग्गलु बोल्लु न जाणहुँ ।
 तो तरलच्छिविलासवसु रइलद्धरसु जम्मावहि बल्लहु माणहुँ । 11.8.10
42. खंडयं—इयवयणं हिययच्छियं, इयराहिं मि समत्थियं ।
 कवपरिणयणे वयधणं, दूरे तस्स तवोवणं ॥ 8.11
43. 9.2
44. पउमसिरिपमुह बहुआउ जाउ, पव्वज्जिउ अज्जिउ जाउ ताउ । 10.21
45. 5.2
46. 5.2
47. 5.3
48. 10.15
49. 3.2
50. 4.10-11
51. 5.9
52. संचरइ सुहावणु मलययवणु, विज्जाहर मणिणिमाणदवणु ।
 सरलावियकेरलिकुरुलमंगु, विरहिणितिलंगिनीसाससंगु ।
 सज्झइरिरणावियसुक्कवंसु. कण्णाडिकणिरकण्णावतंसु ।
 कंतलिकुंतलभरपत्तखलणु, । 4.15

अशुचि अनुप्रेक्षा

जंगमेण संचरइ अजंगमु,
 असुइसरीरे न काइँ मि चंगमु ।
 अडुवियडुहडुसंघडियउ,
 सिरहिं निबद्धउ चम्में मडियउ ।
 रुहिर- मास- वसपयविटलटलु,
 मुत्तनिहाणु पुरीसहो पोट्टलु ।
 थवियउ तो किमि कीडु पयट्टइ,
 दडु मसाण छारु पल्लट्टइ ।
 मुं हंबिबेण जेण ससि तोलहि,
 परिणइ तासु कवोले निहालहि ।
 लोयणोसु कहिं गयउ कडक्खणु,
 कहिं वंगिह दरहसिउ वियक्खणु ।
 विप्फुरियाहस्तु कहिं वट्टइ,
 कोमलबोल्लु काइँ न पयट्टइ ।
 धूपविलेवणु बाहिरि थक्कइ,
 असुइगंधु को फेडिवि सक्कइ ।

अर्थ—जंगम (चेतन) के द्वारा अजंगम का संचरण होता है। इस अशुचि शरीर में कुछ भी अच्छा नहीं है। यह शरीर आड़े-टेढ़े हाडों से संघटित है, शिराओं से निबद्ध है और चमड़े मंडा हुआ है, रुधिर मांस और वसा की गठरी है, मूत्र का खजाना और मल की पीट है; यदि (मरने पर) इसे पड़ा रहने दिया जाय तो कृमि-कीट इसमें प्रविष्ट हो जाते हैं और श्मशान में जलाने पर राख हो जाता है। जिस मुख की चंद्रमा से तुलना की जाती है देखो, उसके कपोलों की क्या दशा हो गई है। नेत्रों का कटाक्ष और दांतों की विचक्षण मुस्कान कहाँ गई? होठों की वह शोभा अब कहाँ है? कोमल वचन अब क्यों नहीं निकलते? धूप का विलेपन भी बाहिर ही रहता है फिर शरीर की इस अशुचि गंध को कौन समाप्त कर सकता है।

जंबूसामिचरिउ के वैराग्य-प्रसंग

—सुश्री प्रीति जैन

□

साहित्य की प्रत्येक विधा का अपना एक कथ्य होता है जिसे सर्वजनहिताय संप्रेषण करने का प्रयास ही उसके सृजन का उद्देश्य होता है। धार्मिक साहित्य इसका अपवाद नहीं है।

धार्मिक ग्रंथों में उस विशिष्ट धर्म की परम्पराओं, मान्यताओं व लक्ष्य का समुचित उल्लेख होता है जिस धर्म के वे ग्रंथ होते हैं। उनमें अपने श्रेय व प्रेय का विशद वर्णन होता है जिसके आलोक में ही उसके सिद्धान्तों, नियमों, रीति नीति आदि का आभास होता है।

ये सब साहित्यिक आधार/उद्देश्य जैन धार्मिक साहित्य में भी सुतरां दृष्टिगत हैं।

जैनधर्म आत्मवादी है और आत्मा की पूर्ण स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बन ही इसका चरम लक्ष्य है अतः प्राणिमात्र को स्वतन्त्रता व स्वावलम्बन की शिक्षा देना इसका उद्देश्य है। स्वतन्त्रता व स्वावलम्बन पाने के लिए आत्मशोधन की प्रक्रिया आवश्यक है। इसलिए हम पाते हैं कि जैनधर्म व उसके धार्मिक साहित्य का मूल मन्तव्य है आत्मशोधन की प्रक्रिया का विवेचन/वर्णन/निरूपण। इसकी अभिव्यक्ति की विधा पृथक्-पृथक् हो सकती है पर उद्देश्य एक ही होता है।

जैन धार्मिक साहित्य को हम चार विधाओं में विभक्त करते हैं —

1. जैन इतिहास—(उन महापुरुषों की चरित-कथाएं जिन्होंने आत्मशोधन कर लक्ष्य प्राप्त कर लिया है या प्राप्त करने वाले हैं)

2. जैन भूगोल—(पृथ्वी व लोक-अलोक आदि का वर्णन)
3. जैन नीतिशास्त्र या आचरणशास्त्र—(कर्तव्य-अकर्तव्य का वर्णन)

तथा

4. जैन तत्त्वविज्ञान—(लोक में विद्यमान द्रव्य, पदार्थ, वस्तु व्यवस्था का वर्णन)

जैन मनीषा इन्हें क्रमशः प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग इन चार विशिष्ट संज्ञाओं से अभिहित करती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथमानुयोग (इतिहास) के ग्रन्थों में महापुरुषों का जीवनचरित निबद्ध होता है। जिन ग्रंथों में अनेकानेक महापुरुषों के चरित गुम्फित होते हैं और सभी समानरूप से प्रमुखता लिये होते हैं उन्हें 'पुराण' कहा जाता है और जिनमें किसी एक विशिष्ट व्यक्ति के चरित को ही प्रमुखता से निरूपित किया जाता है वे 'चरितग्रन्थ' कहलाते हैं। ये 'पुराण' व 'चरितग्रन्थ' साहित्य की दोनों विधाओं-गद्य एवं पद्य में निरूपित हैं।

चरितग्रंथों में उस विशिष्ट पुरुष (जिसने आत्मशोधन कर स्वतन्त्रता एवं स्वावलम्बन पा लिया है अथवा पाने वाला है) का जीवन परिचय, उसका आचरण, उसके जीवन की प्रमुख, महत्त्वपूर्ण व शिक्षाप्रद घटनाओं तथा प्रेरक प्रसंगों का विशद वर्णन होता है जो आत्म-शोधन की दीर्घ प्रक्रिया में उत्सुक/जिज्ञासु/तत्पर/रत जन-सामान्य को आकृष्ट व प्रेरित करते हैं।

सर्वविदित तथ्य है कि स्वावलम्बन पाने के लिए 'पर' का अवलम्बन छोड़ना होगा, स्वतन्त्रता पाने के लिए 'पर' तन्त्र को त्यागना होगा। इसीलिए जैन धार्मिक ग्रंथों का अभिप्रेत प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप से प्राणी को पर-पदार्थों से विमुख कर 'स्व' की ओर अभिमुख करा देना रहा है।

जब प्राणी आत्मशोधन के लिए उत्सुक होता है तब वह स्वाभिमुख होने लगता है। जब वह 'स्व-भाव' का जिज्ञासु होता है तब वह 'स्व' तथा 'पर' का भेद तथा 'पर' पदार्थों की क्षणिकता, अस्थिरता आदि लखकर एवं लक्ष्य प्राप्ति में उनकी अनुपादेयता जानकर उनके प्रति उदासीन होने लगता है। 'पर-पदार्थों' के प्रति उदासीनता व विमुखता की भावना ही तो 'वैराग्य' की दशा है, स्वाभिमुख होने की उत्सुकता ही तो 'वैराग्य' की जननी है।

यह 'वैराग्य' स्वतः भी उद्भूत होता है और परतः भी। कभी प्राणी को स्वतः ही 'पर' पदार्थों की असारता, अनुपयोगिता की अनुभूति होने लगती है तो कभी किसी सद्गुरु के धर्मोपदेश से, शास्त्रपारायण से, किसी अनिष्ट/अप्रिय घटना के दर्शन से या अन्य किसी माध्यम से इनकी निस्सारता/निरर्थकता का आभास होता है/कराया जाता है। भगवान् आदिनाथ व नेमिनाथ आदि के उदाहरण इसके द्योतक हैं।

पुराणों व चरितग्रन्थों में वैराग्य प्रसंगों की बहुलता पाई जाती है क्योंकि ग्रंथ-सर्जक इन प्रसंगों के द्वारा पाठकों को 'वैराग्य-भावना' से आप्लावित कर आत्मशोधन के लिए प्रेरित करना चाहते हैं ।

हमारा विवेच्य ग्रंथ अपभ्रंश भाषा के कवि वीर कृत 'जम्बूसामिचरिउ' भी चरित-ग्रंथों की इस विशिष्टता से परिपूर्ण है । इसमें भी अनेक वैराग्य प्रसंग प्रस्फुटित हैं जिनमें कुछ प्रमुख वैराग्य-प्रसंग हमारे लेख के विषय हैं ।

भवदत्त का वैराग्य प्रसंग

भवदत्त अग्रहार के निवासी आर्यवसु व उनकी पत्नी सोमशर्मा का बड़ा पुत्र था । जब वह अठारह वर्ष का हुआ तब उसके पिता आर्यवसु कुष्ठरोग से पीड़ित हो गये । शीघ्र ही रोग ने अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया । रोग-मुक्त होने की कोई आशा शेष नहीं रही तब आर्यवसु ने आत्मदाह कर अपनी जीवनलीला समाप्त कर ली । पति-वियोग सहने में असमर्थ उनकी पत्नी सोमशर्मा ने भी पति का साथ दिया और जीवन निःशेष किया । अठारह वर्ष का नवयुवक भवदत्त इस कठोर आघात से पीड़ित था ।

कुछ दिनों पश्चात् उस गांव में सुधर्ममुनि का ससंध पदार्पण हुआ । उन्होंने सबको धर्मोपदेश दिया और संसार की असारता का बोध कराते हुए कहा —

'यह जगत् इन्द्रियों के समान चंचल है, विपरीत ज्ञान व मोह के अंधकार से अंधा है । जीवन व्यापार, सांसारिक कर्तव्यों में लिप्त, कामातुर, सुख की तृष्णा से युक्त है । प्राणी दिन सांसारिक कार्यों में खो देता है और रात निद्रा में गंवा देता है ।

(प्राणी) मरने से भय खाता है अतः उससे बचता, लुकता-छिपता है किन्तु फिर भी उससे बच नहीं पाता । शिवसुख चाहता है पर उसे (मिल) नहीं पाता फिर भी यह मनुष्यरूपी पशु भय और काम के वशीभूत होकर सन्तप्त रहता है ।

बहुत दुःख से परिग्रह एकत्रित करता है, परिग्रह से आत्मा को भी बहुत क्लेश होता है । सहज निःसंगवृत्ति (जो अत्यन्त सहज है, जिसे पालन करने में कोई क्लेश, दुःख नहीं उठाना पड़ता है, वह) इसे भारी एवं दुष्कर लगती है । इसके मन को कभी सन्तोष नहीं होता ।

विपरीत ज्ञान में जीते हुए लोग यदि नियति से देह के भीतर (आत्मा की ओर) प्रवृत्त होते भी हैं तो अभिलाषा में पड़ा यह मन बाहर ही (अटका) रह जाता है और अपना जीवन कौए उड़ाने जैसे व्यर्थ कार्यों में गंवा देता है ।' 2.5-7

यह वैराग्य वर्णन बहुत अधिक हृदयस्पर्शी नहीं बन पड़ा है । पाठक इस वर्णन से अधिक प्रभावित नहीं हो पाता ।

मातृ-पितृ शोक से सन्तप्त भवदत्त की मनःस्थिति ही उस समय ऐसी थी कि उस

भूमिका पर 'वैराग्य' उपजना सहज/स्वाभाविक था अतः मुनि के इन शब्दों से वह प्रभावित हो गया और तुरन्त दैगम्बरी दीक्षा ले ली ।

यह 'वैराग्य' स्वतः व परतः दोनों माध्यमों से उद्भूत है ।

भवदेव का वैराग्य प्रसंग

भवदेव भवदत्त का अनुज है । भवदत्त अपनी दीक्षा के बारह वर्ष पश्चात् विहार करते हुए जब पुनः अग्रहार ग्राम में लौटे तब भवदेव का विवाह सम्पन्न हो रहा था ।

परिस्थितिवश भवदेव को अपने विवाह के दिन ही दीक्षा धारण करनी पड़ी । वह मन से इसके लिए तैयार नहीं था पर संकोचवश अस्वीकार नहीं कर सका और यह सोचकर दीक्षित हो गया कि बाद में वापस गृहस्थ बन जाऊंगा । किन्तु ऐसा सम्भव न हो सका ।

वे मुनिवेश में रहे किन्तु मन में निरन्तर घर व पत्नी-विषयक रागरंजित विचार चलते रहते थे । विहार करते हुए बारह वर्ष बाद वे अग्रहार गांव में आए । अपनी पत्नी से मिलने को उत्सुक भवदेव चुपचाप नगर की ओर बढ़ चले । मन प्रिया-मिलन के सपने संजो रहा था किन्तु साथ ही अपनी पत्नी के चरित्र के प्रति शंकालु भी था । वहां उन्हें एक नवनिर्मित चैत्यधर दिखाई दिया । वहीं उन्होंने एक तपस्विनी स्त्री से अपने घर व पत्नी के बारे में पूछा । वह कृशकाया तपस्विनी भवदेव की पत्नी नागवसू ही थी जिसने पति के बिना पूर्वसूचना के अचानक चले जाने पर भी धैर्य व धर्म का त्याग नहीं किया था और अपना तन-मन-धन सर्वस्व धर्म के लिए समर्पित कर दिया था । वह तुरन्त मुनिवेशधारी अपने पति को पहचान गई और सोचने लगी-ओह ! ये त्यागीवेशधारी होकर भी व्रतों से डिगे हुए हैं ! उनके राग को देखकर वह बहुत दुःखी हुई और विचार करने लगी—इनकी दुर्बुद्धि/दुर्भावना को बदलना होगा । उसने अपना परिचय नहीं दिया और मुनि भवदेव से बोली—हे त्रिभुवनतिलक ! आप धन्य हैं जिन्होंने सुख का घर जिनदर्शन पाया है और इस युवावस्था में इन्द्रियों का दमन किया है । परिगलित अर्थात् वृद्धावस्था में तो सभी की विषयाभिलाषाएं उपशान्त हो जाती हैं (पर आपने तो युवावस्था में ही ये सब त्याग दी हैं), ऐसा आपके अलावा कौन कर सकता है ?

रत्न देकर (बदले में) कांच कौन लेना है ? पीतल के लिए स्वर्ण कौन बेचता है ? स्वर्ग व मोक्षसुख को छोड़कर रौरव नरक में कौन जाता है ? कौन ऋषि अपने स्वाध्याय की हानि करता है ?

वह पुनः बोली—और आप जिस नागवसू के बारे में पूछ रहे हैं उसके सौंदर्य का हाल भी सुनिये—उसका सिर नारियल के समान मुंडा हुआ है । मुख लारयुक्त है, वाणी घर-घर करने लगी है । नयन जल बुदबुदे के समान हो गये हैं (अर्थात् जल से भरे रहते हैं), तालु अपना स्थान छोड़ चुका है । चिबुक, ललाट, कपोल और त्वचा आदि वायु से आहत होकर रण-रण करने लगे हैं । देह मांस और रक्त से शून्य, चर्म ढका हुआ हड्डियों का ढांचा मात्र (रह गया) है । हृदय को निःशल्य (विकल्परहित) करो । रूप-सौंदर्य के लिए आपके हृदय में शल्य बना रहा, आपने (इस वेश में भी) परलोक की साधना नहीं की, व्यर्थ समय गंवाया है ।

इस संबोधन को सुनकर भवदेव को सत्य का ज्ञान हुआ, उसके मन के विकल्प-जाल टूट पड़े। उसे सन्मार्ग पर आता देख नागवसू ने अपना परिचय दिया। भवदेव का मन वैराग्य से भर उठा। वह अब मन से दीक्षित हुआ।

2.17-9

यह वर्णन मर्मस्पर्शी बन पड़ा है। पहले नागवसू मुनि भवदेव की प्रशंसा करती है, उसके बाद अनेक उदाहरणों से हेय-उपादेय, योग्य-अयोग्य का बोध कराती है और फिर मानव-शरीर की वृद्धावस्था का हृदयस्पर्शी चित्रण करके मुनि को वैराग्य उत्पन्न कराने का हरसंभव प्रयास करती है।

यहाँ विशेषतः ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि सभी धार्मिक साहित्य-सर्जकों (मुनियों-आचार्यों) ने नारी को आत्मशोधन के मार्ग में सदैव एक बाधा ही माना है किन्तु वीर कवि ने नागवसू का यह एक अनुपम उदाहरण प्रस्तुत कर परम्परा से चले आ रहे इस पूर्वाग्रह को असत्य एवं थोथा साबित किया है और बताया है कि आत्मदीर्घल्य, चारित्रिक शिथिलता तथा सन्मार्ग से स्खलन का कारण नारी (अथवा अन्य कोई भी) नहीं अपितु प्राणी की अपनी भावनाएं हैं। यथार्थतः जैनधर्म को सही रूप में हृदयंगम करनेवाले इस तथ्य को भूलकर कभी भी अपना दोष दूसरे के सिर नहीं मंड सकते।

शिवकुमार का वैराग्य प्रसंग

तीसरा वैराग्य प्रसंग वीताशोक नाम की नगरी के राजा चक्रवर्ती महापद्म व उनकी रानी वनमाला के पुत्र युवराज शिवकुमार (पूर्वभव के भवदेव) का है।

एक श्रेष्ठी के घर से बाहर जाते हुए मुनिराज को देखकर युवराज शिवकुमार को ऐसी स्मृति हुई कि 'इन मुनिवर को पूर्व में भी देखा है' और उन्हें अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो गया जिससे प्रत्यभिज्ञान हुआ कि ये मुनिराज पूर्वभव में मेरे बड़े भाई थे। ये मुनि भवदत्त थे और मैं मुनि भवदेव। अपने पूर्वभव स्मरण से उन्हें संसार की असारता की प्रतीति हुई और 'वैराग्य' उत्पन्न हो गया। उन्होंने अपने मित्र से दीक्षा धारण करने की इच्छा व्यक्त की। पिता को जब उनका मन्तव्य ज्ञात हुआ तो उन्होंने पुत्र को दीक्षा व वनवास से रोका और कहा—इन्द्रियों का निग्रह ही तप है और वह घर में भी सिद्ध हो सकता है। यदि मन में राग-द्वेष नहीं हैं तो वन में तप तपकर ही क्या करोगे? यदि हृदय में कषाय हैं तो वहाँ (वन में) भी तपश्चरण कैसे साधा जा सकेगा? इसलिए मेरी प्रार्थना मानो और घर में रहते हुए ही व्रत-नियम धारण करो।

.....और युवराज शिवकुमार ने घर में रहकर ही साधना की, वनवासी नहीं हुए।

3.6-7

यह इस वैराग्य प्रसंग की अपूर्वता है। प्रायः सभी वैराग्य प्रसंगों की परिणति वनवास और मुनिदीक्षा में दिखाई देती है परन्तु इस प्रसंग के नायक शिवकुमार ने 'घर में ही वैरागी' उक्ति को चरितार्थ किया है।

इस प्रसंग की अन्य विशेषता है कि इसमें शिवकुमार को किसी अन्य प्राणी ने संबोधित नहीं किया न किसी का उपदेश सुना, मात्र पूर्वभव की स्मृति से ही उन्हें वैराग्य-उद्भूत हो गया।

जंबूस्वामी एवं उनके परिजनों का वैराग्य प्रसंग

यह वैराग्य प्रसंग राजगृह के श्रेष्ठी अरहदास व उनकी पत्नी जिनमती के पुत्र, हमारे आधार ग्रन्थ के चरितनायक जम्बूकुमार का है।

मुनि सुधर्मस्वामी से अपने पूर्वभव के वृत्तान्त सुनकर (8.4) जंबूकुमार को वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वे मुनिश्री से दीक्षा प्रदान करने के लिए निवेदन करते हैं।

जम्बूकुमार को पूर्वभव के स्मरणमात्र से ही वैराग्य हो जाता है जैसा कि शिवकुमार को हुआ था परन्तु जम्बूकुमार का वैराग्योत्पत्ति से लेकर दीक्षाग्रहण करने का प्रसंग अत्यन्त रोचक व अभूतपूर्व है। वह प्रसंग व उस समय की घटनाएं आदि अरहदास-विद्युच्चर व जम्बूकुमार की चारों नववधुओं के लिए वैराग्योत्पादक बन जाती हैं।

अतः इन सबके वैराग्य के लिए प्रेरक होने के कारण उस प्रसंग का निरूपण भी यहाँ प्रासंगिक है।

जब जम्बूकुमार मुनि सुधर्मस्वामी से दीक्षा प्रदान करने हेतु निवेदन करते हैं तब मुनिराज दीक्षा के लिए माता-पिता की स्वीकृति भी आवश्यक बताते हैं।

जम्बूकुमार के माता-पिता, परिजन तथा उनकी वाग्दत्ता वधुएं व उनके माता-पिता आदि उन्हें दीक्षा लेने से रोकते हैं, नानाविध समझाते हैं पर शिवपथ के उस भावी पथिक के सामने सब तर्क व्यर्थ रहते हैं। उन्हें अपने निश्चय से डिगाने के सब (प्रकार के) उपायों को निरर्थक जान सबने एक अन्तिम सशर्त उपाय उनके सम्मुख रखा कि कुमार केवल एक दिन के लिए गृहस्थी बनें। वे केवल एक दिन के लिए उन चारों वाग्दत्ता कन्याओं से विवाह करें। यदि कुमार गृहस्थी बन जावें तो सबका मनोवांछित हो ही जाता है और यदि वे तब भी रतिमुख से विरत ही रहें, निर्लिप्त ही रहें तो फिर वे चाहें तो दूसरे दिन प्रातः ही दीक्षा ले सकते हैं। बड़ी विचित्र शर्त है !

दृढमनोरथी जम्बूकुमार ने सबका मन रखने के लिए इस सशर्त विवाह के लिए स्वीकृति प्रदान कर दी। विवाह सम्पन्न हुआ और आई वह निर्णायक रात जो जम्बूकुमार के जीवन की दिशा निर्धारित करनेवाली है। 'भोग या वैराग्य'—कुमार दोनों में से किसे चुनते हैं? वे अपने मन पर दृढ़ रहते हैं या राग-पाश में बंध जाते हैं? सबके मन में यही द्वन्द्व था। परिणाम के प्रति सभी अत्यन्त उत्सुक थे। कैसी अनोखी घटना है !

उस मिलन-यामिनी में चारों वधुएं कुमार को अपनी ओर आकर्षित करने का भरसक प्रयास करने लगीं पर उस दृढ़चरित, स्थिरचित्त, स्व-स्थित जंबूकुमार पर उनकी चेष्टाओं का कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब एक वधू कुमार को लक्ष्य कर अनेक व्यंग्य करती है और अपनी सपत्नियों को मूर्ख धनदत्त की कथा सुनाती है जो प्राप्त भोग-सामग्री को छोड़कर अप्राप्य की आकांक्षा करता है। तब जम्बूकुमार अपने ऊपर अप्रत्यक्षरूप से लगे मूर्खता के इस आरोप को असिद्ध करने के लिए विषयासक्त कौवे की दुर्गति की कथा सुनाते हैं। वधुएं राग-रंजित कथाएं कहती हैं तो कुमार उसके उत्तर में विराग-कथा कहते हैं। इस प्रकार उत्तर-प्रत्युत्तर में दोनों पक्ष परस्पर चार-चार कथाएं सुनाते हैं पर वधुएं अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पातीं।

.....और तभी छद्ममामा बनकर आता है विद्युच्चर । वह भी कुमार को सांसारिक विषयों के प्रति आकर्षित करना चाहता है । इसके निदर्शनार्थं वह भी विषयभोग से सराबोर कथा सुनाता है और कुमार भोग की निरर्थकता प्रतिपादित करनेवाली । फिर परस्पर चार-चार कथाएं कही जाती हैं । इस प्रकार उस रात अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए सोलह कथाओं का आदान-प्रदान होता है और अरुणोदय का समय हो जाता है । परिजन, वधुएं, विद्युच्चर सभी अपनी शर्त में हार जाते हैं और अविचल विरागी, निःश्रेयस के लिए तत्पर जम्बूकुमार गृह त्याग वन की राह लेते हैं । उनके साथ पिता अरहदास, माता जिनमती, विद्युच्चर और चारों नववधुएं भी विरागी हो त्यागमार्ग अपनाते हैं ।

यह सम्पूर्ण वर्णन अत्यन्त रोचक, रोमांचक, प्रभावी व अद्भुत है । ऐसी घटना अभूतपूर्व है, न भूतो न भविष्यति ।

यह प्रसंग कवि वीर की रचना का प्राण है । इस अनूठे प्रसंग से ही इस चरितकाव्य का महत्त्व, मोहकता एवं लोकप्रियता का प्रसार हुआ है और कवि वीर विश्रुत हुए हैं ।

सबसे अन्त में विद्युच्चर द्वारा अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन भी वैराग्य विधायक है । द्वादश-अनुप्रेक्षाएं प्राणी के समक्ष संसार के स्वरूप का दिग्दर्शन कराती हुई हेयोपादेय का निर्णय करने की प्रेरणा देती हैं (11.1-14) । इनके वर्णन में अनेक स्थल अत्यन्त प्रभावी एवं सटीक बन पड़े हैं । विस्तार-भय से उनको उद्धृत नहीं किया जा रहा ।

इस प्रकार कवि वीर के काव्य में राग-शृंगार का भरपूर वर्णन होते हुए भी लक्ष्य 'वैराग्य-भाव' ही रहा है । जम्बू का विवाहोत्सव दूसरे दिन प्रातः ही वैराग्योत्सव में परिणत हो जाता है और हम देखते हैं कि विद्युच्चर जैसा व्यसनी, कुमार्गरत मानव भी जंबू-कुमार से प्रेरित होकर वैराग्य-रस में रंगकर आत्म-शोधक/साधक बन जाता है, मोक्षपथ का पथिक बन जाता है । यह चरितकाव्य अपने लक्ष्य में सफल है, अपनी निकष पर खरा है—यह घटना इसकी द्योतक है, प्रमाण है ।



आस्रवानुप्रेक्षा

तणु-मण-वयण जीउ जीवासउ,
कम्ममणमणवारु आसउ ।
असुहजोएँ जीवहो सकसायहो,
लग्गइ निविडकम्ममलु आयहो ।
कप्पडे जेम कसायइ सिट्टउ,
जायइ बहलरंगु मंजिट्टउ ।
अबलु नरिंदु जेम रिउत्तिमिरें,
मंडुज्जोउ दीउ जिह् तिमिरें ।
जीउ वि वेढिज्जइ तिह् कम्में;
निबडइ दुक्खसमुद्दे अहम्में ।
अकसायहो आसवु सुहकारणु,
कुगइ-कुमाणुसत्तविणिवारणु ।
सुहकम्मेण जीउ अणु संचइ,
तिरथयरत्तु गोत्तु संपज्जइ ।

अर्थ—जीव के आश्रय से होनेवाला तन, मन व वचन का योग (क्रिया) ही कर्मों के आगमन का द्वार है, वही आस्रव है। सकषाय जीव के अशुभ योग के कारण घना कर्ममल इस तरह आकर लग जाता है जैसे कषाय (गोंद) लगे कपड़े में मंजीठ का रंग खूब गाढ़ा हो जाता है। जिस प्रकार दुर्बल राजा को शत्रुसेना के द्वारा, मंद प्रकाशवाले दीपक को अंधकार के द्वारा घेर लिया जाता है उसी प्रकार सकषाय जीव भी कर्मों से वेष्टित कर लिया जाता है और तब जीव अधर्म करके दुःख समुद्र में पड़ता है। अल्पकषायवाले जीव का आस्रव शुभबंध का कारण होता है और वह कुगति में जन्म नहीं होने देता, कुमार्गरत मनुष्य नहीं बनने देता। शुभक्रिया के द्वारा कर्म-परमाणुओं का संचय करनेवाला जीव तीर्थंकर गोत्र को प्राप्त कर लेता है।

जंबूसामिचरिउ के मंगल प्रसंग एक व्याकरणिक विश्लेषण

—डॉ. कमलचन्द सोगानी

□

‘जंबूसामिचरिउ’ महाकवि वीर द्वारा रचित एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। यह अपभ्रंश भाषा में निबद्ध है। इसी ग्रंथ में से हमने कुछ मंगल प्रसंगों का चुनाव करके उनकी भाषा का व्याकरणिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इससे अपभ्रंश भाषा के व्याकरण को प्रयोगात्मक रूप में समझने में सहायता मिलेगी। व्याकरण को प्रस्तुत करने में जिन संकेतो का प्रयोग किया गया है वे नीचे दे दिये गये हैं। यहां उन मंगल प्रसंगों का अनुवाद भी किया गया है। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भाषा का व्याकरण और अनुवाद एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में संबंधित होते हैं।

सो जयउ महावीरो भाणणलहुणियरइसुहो जस्स ।

नाणम्मि फुरइ भुअणं एककं नक्खत्तमिव गयणे ॥ 1.5

—सो (त) 1/1 सवि जयउ (जय) विधि 3/1 अक महावीरो (महावीर) 1/1

भाणणलहुणियरइसुहो [(भाण)+(अणल)+(हुणिय)+(रइ)+(सुहो)] [(भाण)—
(अणल)—(हुण→हणिय) भूकू—(रइ)—(सुह) 1/1] जस्स (ज) 6/1 स नाणम्मि (नाण)
7/1 फुरइ (फुर) व 3/1 अक भुअणं (भुअण) 1/1 एककं (एककं) 1/1 वि नक्खत्तमिव
[(नक्खत्तं)+(इव)] नक्खत्तं (नक्खत्त) 1/1 इव (अ)=जैसे गयणे (गयण) 7/1 ।

(जिनके द्वारा) ध्यानरूपी अग्नि में कामसुख होम दिया गया (है), (तथा) जिनके ज्ञान में (सम्पूर्ण) लोक (इस तरह से) स्पष्ट दिखाई देता है, जैसे आकाश में एक तारा, वे महावीर जयवन्त हों ।

जयउ जिणो पासट्टियनमिविणमि किवाण फुरिय पडिबिबो ।

गहियणरूवजुयलो व्व तिजयमणुसासिउं रिसहो ॥ 1.6

जयउ (जय) 3/1 अक जिणो (जिण) 1/1 पासट्टियनमिविणमिकिवाणफुरियपडिबिबो [(पास)-(ट्टु→ट्टिय) भूकू-(नमि)-(विणमि)-(किवाण)-(फुर→फुरिय) भूकू-(पडिबिब) 1/1] गहियणरूवजुयलो [(गहिय)+(अण्ण)+(रूव)+(जुयलो)] [(गह→गहिय) भूकू-(अण्ण) वि-(रूव)-(जुयल) 1/1] व्व (अ)=मानो तिजयमणुसासिउं [(ति)+(जयं)+(अणुसासिउं)] [(ति) वि-(जय) 2/1] अणुसासिउं (अणुसास) हेकू रिसहो (रिसह) 1/1 ।

(वे) ऋषभ जिन जयवन्त हों (जिनके) पिछले भाग में स्थित नमि और विणमि की (चमकदार) तलवारों में (उनका) प्रतिबिंब (इस तरह से) दृष्टिगोचर हुआ (है), मानो (उनके द्वारा) अन्य दो रूप तीन जगत् को (मूल्यात्मक) शिक्षण प्रदान करने के लिए धारण किये गये (हैं) ।

जयउ सिरिपासणाहो रेहइ जस्संगनीलिमाभिन्नो ।

फण्णो तडिछट्टियनवघणो व्व मण्णिगग्भिणो फणकडप्पो ॥ 1.7

जयउ (जय) विधि 3/1 अक सिरिपासणाहो [(सिरि)-(पासणाह) 1/1] रेहइ (रेह) व 3/1 अक जस्संगनीलिमाभिन्नो [(जस्स)+(अंग)+(नीलिमा)+(भिन्नो)] जस्स (ज) 6/1 स [(अंग)-(नीलिमा)-(भिन्न) 1/1 वि] फण्णो (फण्ण) 6/1 तडिछट्टियनवघणो [(तडि)-(छट्टिय) भूकू अनि-(नव) वि-(घण) 1/1] व्व (अ) = की तरह मण्णिगग्भिणो [(मण्णि)-(गग्भिण) 1/1 वि] फणकडप्पो [(फण)-(कडप्प) 1/1] ।

(वे) श्रीपाश्र्वनाथ जयवन्त हों (जिनके ऊपर स्थित) सर्प का मणिसहित फणसमूह (उनके) शरीर की नीलिमा से भिन्न (दिखाई देता है), (जो) (नीले आकाश में) बिजली से चमके हुए बादल-समूह की तरह सुन्दर प्रतीत होता है ।

पंच वि पणवेप्पिणु परमगुरु मोक्खमहागइगामिहि ।

पारंभिय पच्छिमकेवलिहि जिह कह जंबूसामिहि ॥ 1.1.1-2

पंच (पंच) 2/2 वि वि (अ) = संख्यावाचक शब्दों के पश्चात् प्रयुक्त होने पर 'समस्ता' का अर्थ होता है । पणवेप्पिणु (पणव) संकृ परमगुरु [(परम) वि-(गुरु) 2/2] मोक्खमहागइगामिहि [(मोक्ख)-(महागइ)-(गामि) 6/1 वि] पारंभिय (पारंभ) व कर्म 1/1 पच्छिमकेवलिहि [(पच्छिम) वि-(केवलि) 6/1 वि] जिह (अ) = परम्परा-अनुसार कह (कहा) 1/1 जंबूसामिहि (जंबूसामि) 6/1 ।

सभी पाँचों परम गुरुओं (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) को भक्ति-पूर्वक नमस्कार करके समतारूपी महास्थिति को प्राप्त करनेवाले अन्तिम केवली, जम्बूस्वामी की परम्परा के अनुसार कथा प्रारम्भ की जाती है ।

पणमामि जिणेसर वड्डमाणु	किउ जेण तित्थु जगे वड्डमाणु ।
ससुरासुरकयजम्माहिसेउ	संसारसमुद्दुत्तारसेउ ।
चलणगं दोलियमेरुधीरु	निम्नासियसक्कासंकवीरु ।
नहकंतिजित्तससिसुरधामु	परियाणियलोयालोयधामु ।
जयसासणु विहरियसमवसरणु	चउगइदुहपीडियजीवसरणु ।
भाणगिगिभूइकयकम्मबंधु	भव्वयणकमलकंदोट्टबंधु ।
वरकमलालिगियचारुमुत्ति	रयणत्तयसाहियपरममुत्ति ।
तइलीयसामि-सममित्तसत्तु	वयणसुहासासियसयलसत्तु । 1.1.3-10

पणमामि (पणम) व 1/1 सक जिणेसर (जिणेसर) 2/1 वड्डमाणु (वड्डमाणु) 2/1 किउ (कि → किअ → किउ) भूक 1/1 जेण (ज) 3/1 स तित्थु (तित्थ) 1/1 जगे (जग) 7/1 वड्डमाणु (वड्ड) वक 1/1 ।

ससुरासुरकयजम्माहिसेउ [(ससुर) + (असुर) + (कय) + (जम्म) + (अहिसेउ)] [(ससुर) वि - (असुर) - (कय) भूक अनि-(जम्म)-(अहिसेअ) 1/1] संसारसमुद्दुत्तारसेउ [(संसार) + (समुद्) + (उत्तार) + (सेउ)] [(संसार)-(समुद्)-(उत्तार)-(सेअ) 1/1]

चलणगं [(चलण) + (अगं)] [(चलण)-(अग) 2/1] दोलियमेरुधीरु [(दोल ^{प्रे} → दोलिय) भूक-(मेरु)-(धीरु) 1/1 वि] निम्नासियसक्कासंकवीरु [(निम्नास → निम्नासिय) भूक-(सङ्क → सक्का⁺)-(संक-(वीरु) 1/2] ।

+ समासगत शब्दों में रहे हुए स्वर ह्रस्व के स्यान पर दीर्घ हो जाया करते हैं (हेम प्राकृत व्याकरण 1-4) ।

+ जिन धातुओं में आदि स्वर दीर्घ होता है, उन धातुओं से प्रेरणार्थक भाव प्रकट करने के लिए कभी-कभी किसी भी प्रकार के प्रेरणार्थक प्रत्यय को नहीं जोड़ा जाता है ।

(हेम प्राकृत व्याकरण, 3-150) ।

नहकंतिजित्तससिसुरधामु [(नह)-(कंति)-(जित्त) भूक अनि-(ससि)-(सुर)-(धाम) 1/1] परियाणियलोयालोयधामु [(परि-याण → परि-याणिय) भूक-(लोयालोय)-(धामु) 1/1]

जयसासणु [(जय)-(सासण) 1/1] विहरियसमवसरणु [(विहर → विहरिय) भूक-(समवसरण) 1/1] चउगइदुहपीडियजीवसरणु [(चउ)-(गइ)-(दुह)-(पीड → पीडिय) भूक-(जीव)-(सरण) 1/1] ।

भाणगिगिभूइकयकम्मबंधु [(भाण) + (अगि) + (भूइ) + (कय) + (कम्म) + (बंधु)] [(भाण)-(अगि)-(भूइ)-(कय) भूक अनि-(कम्म)-(बंध) 1/1] भव्वयणकमल कंदोट्टबंधु [(भव्व)-(यण)-(कमल)-(कंदोट्ट)-(बंधु) 1/1] ।

(कंदोट्ट = नील कमल, कमलबंधु = सूर्य)

वरकमलालिगियचारुमुत्ति [(वर) + (कमला) + (आलिगिय) + (चारु) + (मुत्ति)] [(वर)-(कमला)-(आलिग → आलिगिय) भूक-(चारु)-(मुत्ति) 1/1] रयणत्तयसाहियपरममुत्ति [(रयणत्तय)-(साह → साहिय) भूक-(परम) वि-(मुत्ति) 1/1] ।

तइल्लोयसामि-सममित्तसत्तु [(तइल्लोय)-(सामि)-(सम) वि-(मित्त)-(सत्तु)^{+2/1}]
वयणसुहासासियसयलसत्तु [(वयण)-(सुहा)-(सास→सासिय) भूक- (सयल) वि-(सत्तु) 1/1]

+ कभी द्वितीया विभक्ति का प्रयोग सप्तमी अर्थ में किया जाता ।

(हेम प्राकृत व्याकरण, 3-137) ।

(मैं) जिनेश्वर, वर्द्धमान को प्रणाम करता हूँ, जिनके द्वारा जगत् में (प्राणियों के लिए) (सदैव) (अध्यात्म में) बढ़ता हुआ मार्ग दिखाया गया (है) ।

(जिनका) देवों सहित असुरों द्वारा जन्माभिषेक किया गया (है) (और) (जो) संसाररूपी (मानसिक तनावरूपी) समुद्र से पार पहुँचाने में सेतु-रूप (हैं) ।

(जिनके द्वारा) अग्रूठे के अग्रभाग से (ही) स्थिर मेरु ढिगा दिया गया (है), (और) (जिनके द्वारा) इन्द्र की जटिल शंकाएँ पूर्णरूप से मिटा दी गई (हैं) ।

(जिनके द्वारा) नखों की प्रभा से सूर्य और चन्द्रमा की कान्ति फीकी कर दी गई (है), (तथा) (जिनके द्वारा) (समस्त) लोकालोक की अवस्था पूर्णरूप से जान ली गई (है) ।

(जिनका) साधु-समुदाय (स्थान-स्थान पर) ले जाया गया (है) (इसलिए) (उनका) जगत् में प्रभुत्व (है), तथा जो चारों गतियों में दुःख से हैरान किये गये जीवों के लिए रक्षा-स्थल (हैं) ।

(जिनके द्वारा) ध्यानरूपी अग्नि से कर्म-बन्धन राख कर दिया गया (है) (तथा) (जो) मुक्तिगामी मनुष्यरूपी नील कमलों के (विकास के) लिए सूर्य (हैं) ।

(जिनके द्वारा) श्रेष्ठ और मनोहर मुक्तिरूपी लक्ष्मी गले लगाली गई है, (तथा) (जिनके द्वारा) रत्नत्रय से परम शान्ति प्राप्त करली गई (है) ।

(जो) तीन लोक के स्वामी हैं और मित्र तथा शत्रु में समतावान् (हैं), (तथा) (जिनके द्वारा) सम्पूर्ण प्राणी जगत् उपदेशरूपी अमृत से आकर्षित किया गया (है) ।

तित्थंकरु केवलनाणधरु सासयपयपहु सम्मइ ।

जरमरणजम्मविद्धंसयरु देउ देउ महु सम्मइ ॥ 1.1.11-12

तित्थंकरु (तित्थंकर) 1/1 केवलनाणधरु [(केवल) वि (नाण)-(धर) 1/1 वि] सासय-
पयपहु [(सासय) वि-(पय)-(पहु) 1/1] सम्मइ (सम्मइ) 1/1 जरमरणजम्मविद्धंसयरु
[(जर⁺)-(मरण)-(जम्म)-(विद्धंसयर) 1/1 वि] देउ (दा) विधि 3/1 सक महु (अम्ह) 4/1
स सम्मइ (सम्मइ) 2/1 ।

+ जरा→जर (समास में दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व; हे. प्रा. व्या. 1-4) ।

तीर्थंकर महावीर (जो) केवलज्ञान के धारक (हैं); शाश्वत पद के स्वामी (हैं);
बुढ़ापा, मृत्यु और जन्म के नाशक (हैं); मेरे लिए सन्मति देवें, (सन्मति) देवें ।

वीरहो पय परणविवि मंदमइ
जो परगुणगहणकज्जे जियइ
सो सुयणु सहावें सच्छमइ
गुण भंपइ पयडइ दोसु छलु
परगुणपरिहारपरंपरए
करजोडिवि विउसहो अणुसरमि
अवसदुदु नियवि मा मणि धरउ
कव्वु जे कइ विरयइ एककगुणु
एककु जे पाहाणु हेसु जणइ
सो विरलु को वि जो उहयमइ
सुइसुहयरु पढइ फुरंतु मणे
रसभारवाहं रंजियविउसयणु
सो चय गव्वु जइ नउ करइ

सविणयगिरु जंपइ वीरु कइ ।
सिविणे वि न दोसु लेसु नियइ ।
गुणदोसपरिक्खहि नारुहइ ।
अवभासें जाणंतो वि खलु ।
ओसरउ हयासु सो वि परए ।
अवभत्थण मज्जत्थहो करमि ।
परिउंछिवि सुंदरु पउ करउ ।
अण्णेक्क पउंजिक्खइ निउण ।
अण्णेक्कु परिक्खा तासु कुणइ ।
एवं विहो वि पुणु हवइ जइ ।
कव्वत्थु निवेसइ नियवयणे ।
सो मुयवि सयंभु अण्णु कवणु ।
तहो कज्जे पवणु तिहयणु धरइ ।

1.2

वीरहो (वीर) 6/1 पय (पय) 2/2 पणविवि (पणव) संकृ मंदमइ [(मंद) वि-
(मइ) 1/1] सविणयगिरु [(सविणय) वि-(गिर) 2/1] जंपइ (जंप) व 3/1 सक वीरु
(वीर) 1/1 कइ (कइ) 1/1 ।

जो (ज) 1/1 सवि परगुणगहणकज्जे [(पर) वि-(गुण)-(गहण)-(कज्ज⁺) 7/1]
जियइ (जिय) व 3/1 अक सिविणे (सिविण) 7/1 वि (अ) = भी न (अ) = नहीं दोसु
(दोस) 2/1 लेसु (लेस) 2/1 वि नियइ (निय) व 3/1 सक ।

⁺ कभी-कभी सप्तमी का प्रयोग तृतीया अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या., 3-135) ।

सो (त) 1/1 सवि सुयणु (सुयण) 1/1 सहावे⁺ (सहाव) 3/1 सच्छमइ [(सच्छ)
वि-(मइ) 1/1] गुणदोसपरिक्खहि [(गुण)-(दोस)-(परिक्ख) 7/1] नारुहइ [(न) + अ
(रुहइ)] न (अ) = नहीं अरुहइ (अरुह) व 3/1 अक ।

⁺ क्रिया विशेषण अव्यय की तरह प्रयुक्त ।

गुण (गुण) 2/2 भंपइ (भंप) व 3/1 सक पयडइ (पयड) व 3/1 सक दोसु
(दोस) 2/2 छलु (छल) 2/2 अवभासें (अवभास) 3/1 जाणंतो (जाण) वकृ 1/1 वि
(अ) = भी खलु (खल) 1/1 ।

परगुणपरिहारपरंपरए [(पर) वि-(गुण)-(परिहार)-(परंपरा) 3/1] ओसर
(ओसर)⁺ 6/1 उ (अ) = निश्चय ही हयासु (हयास) 1/1 सो (त) 1/1 सवि वि (अ) = भी
परए (पर) व 3/1 सक ।

⁺ कभी कभी षष्ठी का प्रयोग सप्तमी अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या., 3-134)

करजोडिवि [(कर)-(जोड) सं कृ] विउसहो⁺ (विउस) 6/1 अणुसरमि⁺ (अणुसर) व 1/1 सक अढभत्थण (अढभत्थण) 2/1 मज्जत्थहो (मज्जत्थ) 6/1 करमि (कर) व 1/1 सक ।

⁺ स्मरण अर्थ की क्रियाओं के साथ कर्म में षष्ठी होती है ।

अवसद्दु (अवसद्द) 2/1 नियवि (निय) संकृ मा (अ)—मत मणि (मण) 7/1 धरउ (धर) विधि 2/1 सक परिउंछिवि (परिउंछ) संकृ सुंदरु (सुंदर) 2/1 वि पउ (पअ) 2/1 करउ (कर) विधि 3/1 सक ।

कव्वु (कव्व) 2/1 जे (अ)—पादपूर्ति कइ (कइ) 6/1 विरयइ (विरय) व 3/1 सक एककगुणु [(एकक) वि-(गुण) 1/1] अण्णेक्क [(अण्ण)+(एकक)] [(अण्ण) वि-(एकक) 1/1 वि] पउंजिज्जइ⁺ (पउंज) व 3/1 सक निउण (निउण) 1/1 वि ।

⁺ यह शब्द 'पउंजिज्जइ' होना चाहिए ।

एक्कु (एकक) 1/1 वि जे (अ)—पादपूर्ति पाहाणु (पाहाण) 1/1 हेमु (हेम) 2/1 जराइ (जरा) व 3/1 सक अण्णेक्कु [(अण्ण)+(एक्कु)] [(अण्ण) वि-(एकक) 1/1 वि] परिक्खा (परिक्खा) 2/1 तासु (त) 6/1 स कुणइ (कुण) व 3/1 सक ।

सो (त) 1/1 सवि विरलु (विरल) 1/1 वि को (क) 1/1 सवि वि (अ)—सर्वनाम के साथ अनिश्चयात्मक अर्थ प्रकट करता है । जो (ज) 1/1 सवि उहयमइ [(उहय)-(मइ) 2/1] एवं विहो (एवं विह) 1/1 वि. वि (अ)=भी पुणु (अ)=फिर हवइ (हव) व 3/1 अक जइ (अ)=यदि ।

सुइसुहयरु [(सुइ)-(सुहयर) 1/1 वि] पढइ (पढ) व 3/1 सक फुरंतु (फुर) वक्क 1/1 मणे (मण) 7/1 कव्वत्थु [(कव्व)+(अत्थु)] [(कव्व)-(अत्थ) 2/1] निवेसइ (निवेस) व 3/1 सक नियवयणे [(निय) वि-(वयण) 7/1]

रसभार्वह [(रस)-(भाव) 3/2] रंजियविउसयणु [(रंज→रंजिय)-(विउस)-(यण) 1/1] सो (त) 1/1 सवि मुयवि (मुय) संकृ सयंभु (सयंभू) 2/1 अण्णु (अण्ण) 1/1 वि कवणु (कवण) 1/1 वि ।

सो (त) 1/1 सवि च्चैय (अ)=भी गव्वु (गव्व) 2/1 जइ (अ)=यदि नउ (अ)=नहीं करइ (कर) व 3/1 सक तहो (त) 6/1 कज्जे⁺ (कज्ज) 7/1 धरइ (धर) व 3/1 सक पवणु (पवण) 1/1 तिहयणु (तिहयण) 2/1 ।

⁺ कभी कभी सप्तमी का प्रयोग तृतीया अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या., 3-135) ।

महावीर के चरणों को प्रणाम करके मंदमति वीर कवि विनय सहित (अपनी) बात (इस प्रकार) कहता है ।

जो पर गुणों को ग्रहण करने के उद्देश्य से जीता है (और) स्वप्न में भी अल्प दोष को नहीं देखता है, वह सज्जन (है) (और) स्वभाव से स्वच्छ मति (होता है) । (वह) गुण-दोषों की परीक्षा करने में योग्य नहीं होता है ।

दुर्जन गुणों और दोषों को जानता हुआ भी (अपनी) आदत के कारण (गुणों को) ढकता है (और) दोषों को प्रकट करता है ।

परगुणों का तिरस्कार करने की आदत के कारण वह (दुर्जन) भी हताश (होकर) (मेरे काव्य में दोष ढूँढने के) अवसर पर निश्चय ही मारा मारा फिरता है (फिरेगा) ।

(इसलिए) (मैं) हाथ जोड़ करके विद्वत् समूह का स्मरण करता हूँ (तथा) निष्पक्ष जन की प्रार्थना करता हूँ ।

(काव्य में) अपशब्द को देखकर मन में मत रखना, (उसको) हटाकर सुन्दर पद को रख लेना ।

कवि का एक गुण काव्य की रचना करना है (और) दूसरा कोई निपुण (व्यक्ति) (काव्य की) समीक्षा करता है ।

(ठीक ही है) एक पत्थर स्वर्ण को उत्पन्न करता है (तथा) दूसरा कोई (पत्थर) उसकी (स्वर्ण की) परीक्षा करता है ।

वह कोई (व्यक्ति) जो दोनों प्रकार की बुद्धि (काव्य रचना और काव्य समीक्षा) को (धारण करता है), (वह) दुर्लभ (है) । फिर भी यदि ऐसा (कोई व्यक्ति) विद्यमान है (जो) कानों के लिए सुखकारी (स्वर से) काव्य को पढ़ता है (और) मन में खिलता हुआ निज वाणी में काव्य के अर्थ को स्थापित करता है (और जिसके द्वारा) (काव्य) रस और भावों से विद्वान् मनुष्य तृप्त किये गये (हैं), वह स्वयंभू को छोड़ कर अन्य कौन है ?

वह भी यदि गर्व नहीं करता है (तो) (समझना चाहिए कि) उसके कारण (ही) पवन त्रिभुवन को धारण करता है ।

कयग्रणवणपरियत्तणु वि पयडबंध संघाणहि ।

अकहिज्जमाणु कइ चोर जणे लखिज्जइ बहुजाणहि ॥ 1.2.14-15

कयग्रणवणपरियत्तणु [(कय) भूकृ अनि-(ग्रण) वि-(वण)-परियत्तण) 1/1] वि (अ) = यद्यपि पयडबंधसंघाणहि [(पयड)-(बंध)-संघाण) 3/2] अकहिज्जमाणु (अकह+इज्ज+माण) वकृ कर्म 1/1 कइ (कइ) 1/1 चोर (चोर) 1/1 जणे⁺ (जण) 7/1 लखिज्जइ (लख) वकृ कर्म 3/1 सक बहुजाणहि (बहुजाण) 3/2 ।

⁺ कभी-कभी सप्तमी का प्रयोग तृतीया अर्थ में पाया जाता है ।

(हे. प्रा. व्या., 3-135) ।

यद्यपि (जिस प्रकार) चोर मनुष्य द्वारा अन्य रूप से वेश-भूषा परिवर्तन की गई है, (तो भी) (वह) प्रत्यक्ष (चोरी के) साधनों के (उपयोग) के कारण बिना कहे जाते हुए (ही) ज्ञानियों द्वारा (चोर) समझ लिया जाता है, (उसी प्रकार) यद्यपि (किसी) कवि जन द्वारा (काव्य में) अन्य रूप से वर्ण परिवर्तन किया गया है, (तो) (भी) (वह) प्रत्यक्ष श्लोक-स्वरूप के कारण बिना कहे जाते हुए (ही) ज्ञानियों द्वारा (साहित्यिक चोर) समझ लिया जाता है ।

तुमं देव सव्वण्हु लच्छीविसालो
समुज्जोइयासोह वा तेयपूरो
न ते वीयरायस्स पूयाए तोसो
परं ते समुग्गीरियं देव नामं
तुमं पुज्जमाणस्य लोयस्स एसो
कणो जेम हालाहलस्सप्पसत्थो
अविग्घो तए देव सिट्ठो समग्गो
पडंतो जणो मोहकालाहिखद्धो
तुमं पत्तसंसारकूवारतीरो
तए नाणजोइए उट्ठित्तमेयं
मुहाभासयं दप्पणे पेक्खमाणा
तहा वत्थुरूवं अहं बुद्धिलुद्धा
तुमं आयमाणस्स नाणम्मि लीणं

अहं वणिज्जणं न सक्केमि बालो ।
न पुज्जिज्जए किं पईवेण सूरो ।
न वा संत वइरस्स निदाए रोसो ।
पवित्तेउ चित्तं महं सुक्खथामं ।
महापुण्णपुंजम्मि सावज्ज लेसो ।
सुहासायरंइसिउं नो समत्थो ।
तिलोयग्गामीण भव्वाण मग्गो ।
किअो देव वायासुहाए विसुद्धो ।
तुमं सामि संपुण्णविज्जासरीरो ।
समुग्भासए चंदसूराण तेयं ।
मुहं चेव मण्णंति बाला अयाणा ।
सरूवं निरूवंति ते नाह मुद्धा ।
मणं होउ मे नाह संकप्पखीण ।

(1.18)

तुमं (तुम्ह) 1/1 स देव (देव) 8/1 सव्वण्हु (सव्वण्हु) 1/1 वि लच्छीविसालो [(लच्छी)-(विसाल) 1/1 वि] अहं (अम्ह) 1/1 स वणिज्जणं [(वण्ण)+(इ)+(ऊ)+(णं)] वण्ण (वण्ण) 4/1 इ (अ) = वाक्यालंकार ऊ (अ) = सूचनात्मक णं (अ) = प्रश्नवाचक न (अ) = नहीं सक्केमि (सक्क) व 1/1 अक बालो (बाल) 1/1 ।

समुज्जोइयासोह [(सं) + (उज्जोइया) + (सोह)] सं (अ) = खूब [(उज्जोइय → स्त्री उज्जोइया) भूकृ अनि-(सोहा) 1/1] वा (अ) = तो भी तेयपूरो [(तेय)-(पूर) 1/1 वि] न (अ) = नहीं पुज्जिज्जए (पुज्ज) व कर्म 3/1 सक किं (अ) = क्या पईवेण (पईव) 3/1 सूरो (सूर) 1/1 ।

न (अ) = नहीं ते (तुम्ह) 6/1 स वीयरायस्स (वीयराय)⁺ 6/1 पूयाए (पूया) 3/1 तोसो (तोस) 1/1 वा (अ) = तथा संत (संत) भूकृ 6/1 अनि वइरस्स (वइर) 6/1 निदाए (निदा) 3/1 रोसो (रोस) 1/1 ।

+ कभी कभी षष्ठी का प्रयोग तृतीया अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या. 3-134)

परं (पर) 1/1 वि ते (तुम्ह) 6/1 स समुग्गीरियं [(सं) + (उग्गीरियं)] सं = भली प्रकार से उग्गीरियं (उग्गीर → उग्गीरिय) भूकृ 1/1 देव (देव) 8/1 नामं (नाम) 1/1 पवित्तेउ (पवित्त) विधि 3/1 सक चित्तं (चित्त) 2/1 महं (अम्ह) 6/1 स सुक्खथामं [(सुक्ख)-(थाम) 1/1] ।

तुमं (तुम्ह) 2/1 स पुज्जमाणस्स (पुज्ज) वकृ 6/1 लोयस्स (लोय) 6/1 एसो (एत्) 1/1 स महापुण्णपुंजम्मि [(महा)-(पुण्ण)-(पुंज⁺) 7/1] सावज्जलेसो [(सावज्ज) वि-(लेस) 1/1] ।

+ कभी कभी सप्तमी का प्रयोग द्वितीया अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या. 3-135)

कणो (कण) 1/1 जेम (अ) = जिस प्रकार हालाहलस्सप्पसत्थो [(हालाहलस्स) + (अप्पसत्थो)] हालाहलस्स (हालाहल) 6/1 अप्पसत्थो (अप्पसत्थ) 1/1 वि सुहासायरंढूसिउं [(सुहा)-(सायर) 2/1] ढूसिउं (ढूस प्रे→ढूस⁺→ढूसिउं) हेक्क नो (अ) = नहीं समत्थो (समत्थ) 1/1 वि ।

+ जिन धातुओं में आदि स्वर दीर्घ होता है उन धातुओं से प्रेरणार्थक भाव प्रकट करने के लिए कभी-कभी किसी भी प्रेरणार्थक प्रत्यय को नहीं जोड़ा जाता है ।

(हे. प्रा. व्या., 3-150)

अविग्घो (अविग्घ) 1/1 वि तए (तुम्ह) 3/1 देव (देव) 8/1 सिट्ठो (सिट्ठ) 1/1 वि समग्गो (समग्ग) 1/1 वि तिलोयग्गामीण [(तिलोय) + (अग्ग) + (गामीण)] [(तिलोय)-(अग्ग)-गामि 4/4 वि] भव्वाण (भव्व) 4/2 मग्गो (मग्ग) 1/1 ।

पडंतो (पड) वक्क 1/1 जणो (जण) 1/1 मोहकालाहिखद्धो [(मोह) + (काल) + (अहि) + (खद्धो)] [(मोह)-(काल)-(अहि)-(खद्ध) 1/1 वि] किअो (किअ) भूक्क 1/1 देव (देव) 8/1 वायासुहाए [(वाया)-(सुहा) 3/1] विसुद्धो (विसुद्ध) भूक्क 1/1 अनि ।

तुमं (तुम्ह) 3/1 स पत्तसंसारकूवारतीरो [(पत्त) भूक्क अनि-(संसार)-(कूवार)-(तीर) 1/1] तुमं (तुम्ह) 3/1 स सामि (सामि) 8/1 संपुण्णविज्जासरीरो [(संपुण्ण) वि-(विज्जा)-(सरीर) 1/1] ।

तए (तुम्ह) 7/1 स नाएजोईए [(नाण)-(जोइ) 3/1] उदित्तमेयं [(उदित्त) + (एयं)] उदित्तं (उदित्त) भूक्क 1/1 अनि एयं (एय) स 1/1 समुब्भासए [(सं) + (उब्भासए)] सं=पूर्णांतः उब्भासए (उब्भास→उब्भासअ) भूक्क 3/1 चंदसूराण [(चंद)-(सूर) 6/2] तेयं (तेय) 1/1 ।

मुहाभासयं [(मुह) + (आभासयं)] [(मुह)-(आभास) 2/1 स्वार्थिक य] दप्पणे (दप्पण) 7/1 पेक्खमाणा (पेक्ख) वक्क 1/2 मुहं (मुह) 1/1 चेव (अ) = ही मणंति (मण्ण) वं 3/2 सक बाला (बाल) 1/2 अयाणा (अयाण) 1/2 ।

तहा (अ) = उसी प्रकार वत्थुरूवं [(वत्थु)-(रूव) 3/1] अहंभुद्धिलुद्धा [(अहं)-(बुद्धि)-(लुद्ध) भूक्क 1/2 अनि] सरूवं (सरूव) 2/1 निरूवंति (निरूव) व 3/2 सक ते (त) 1/2 सवि नाह (नाह) 8/1 मुद्धा (मुद्ध) 1/2 वि ।

तुमं (तुम्ह) 2/1 स भायमाणस्स (भा→भाय)⁺ वक्क 6/1 नाएम्मि (नाए) 7/1 लीणं (लीण) 1/1 वि मणं (मण) 1/1 होउ (हो) विधि 3/1 मे (अम्ह) 6/1 नाह (नाह) 8/1 संकप्पलीणं [(संकप्प)-(खौण) 1/1 वि] ।

+ कभी कभी षष्ठी का प्रयोग तृतीया अर्थ में पाया जाता है । (हे. प्रा. व्या. 3-134)

हे देव ! तुम सर्वज्ञ (हो) (और) आभा से भरपूर (हो), (तो) क्या मैं अज्ञानी (आपकी) प्रशंसा के लिए समर्थ हूँ ?

(यद्यपि) (आपकी) शोभा खूब प्रकाशित है, तो भी क्या प्रकाशपूर्ण सूर्य दीपक से नहीं पूजा जाता है ?

वीतराग होने के कारण तुम्हारी (स्वयं की) पूजा से (तुमको) हर्ष नहीं (होता है) तथा शान्त हुए वैर के कारण (तुम्हारी) निंदा से (तुमको) कोध नहीं (आता है) ।

हे देव ! भली प्रकार से उच्चारण किया हुआ तुम्हारा नाम (ही) श्रेष्ठ (है) (और) (वह) मुख का धाम (है); (वह) मेरे चित्त को पवित्र करे ।

तुमको पूजते हुए मनुष्य वर्ग की महा पुण्यराशि को (पूजा सामग्री से उत्पन्न) यह पाप-युक्त कण दूषित करने के लिए समर्थ नहीं होता है, जिस प्रकार घातक विष का अप्रशस्त कण अमृत के सागर को (दूषित करने के लिए समर्थ नहीं होता है) ।

हे देव ! तुम्हारे द्वारा विघ्नरहित, श्रेष्ठ (व) समग्र मार्ग त्रिलोक के अग्र भाग पर जानेवाले भव्यों के लिए (समझाया गया है) । हे देव ! पतित होता हुआ मनुष्य (तथा) आसक्तिरूपी कालसर्प द्वारा भक्षित (मनुष्य) (तुम्हारी) वाणीरूपी अमृत से शुद्ध किया गया (है) ।

हे स्वामी ! आपके द्वारा संसाररूपी सागर का किनारा पा लिया गया (है) (और) आपके द्वारा सम्पूर्ण विद्यारूपी शरीर (भी) पा लिया गया (है) ।

आप में पूर्णतः प्रकट हुई ज्ञानज्योति से चन्द्र (और) सूर्य का यह तेज प्रकाशित हुआ (है) ।

अनसमभ बालक मुख के प्रतिबिम्ब को दर्पण में देखते हुए (यह) मुख ही (है); (ऐसा) मानते हैं । हे नाथ ! उसी प्रकार अहंकारबुद्धि से लालायित हुए अज्ञानी (लोग) (एकांगी) वस्तु स्वरूप को (जो) बतलाते (हैं), (उसे) (ही) वे (वस्तु का) स्वरूप (कह देते हैं) ।

हे नाथ ! आपका ध्यान करते हुए होने के कारण मेरा मन ज्ञान में लौन होवे (और) संकल्प-रहित (हो जाय) ।

मरणभएणं लुक्कइ अहव न चुक्कइ वंछइ सिवसुहु नउ लहइ ।

तहवि हु माणुसपसु भयकामहु वसु सहियए तप्पिवि तणु डहइ ॥

2.6

मरणभएणं [(मरण)-(भय) 3/1] लुक्कइ (लुक्क) व 3/1 अक अहव (अ) = तब चुक्कइ (चुक्क) व 3/1 अक न (अ) = नहीं वंछइ (वंछ) व 3/1 सक सिवसुहु [(सिव)-(सुह) 2/1] नउ (अ) = नहीं लहइ (लह) व 3/1 सक तहवि (अ) = फिर भी हु (अ) = आश्चर्य माणुसपसु [(माणुस)-(पसु) 1/1] भयकामहु [(भय)-(काम) 6/1] वसु (वस) 1/1 सहियए (स-हियअ) 7/1 तप्पिवि (तप्प) संकृ तणु (तण) 2/1 डहइ (डह) व 3/1 सक ।

(व्यक्ति) मरणभय के कारण छिपता रहता है, तब (भी) (मरण से) बचता नहीं है। (वह) मोक्ष-सुख को (तो) चाहता है, (किन्तु) (उसको) प्राप्त नहीं कर पाता है। आश्चर्य है फिर भी (वह) मनुष्यरूपी पशु भय और काम के बशीभूत (होकर) अपने हृदय में पीड़ा सहन करके शरीर को जलाता है।

धम्म अहिंसालक्षणलक्खिउ किज्जइ आगमेण सुपरिक्खिउ ।
आगमु सो जि जित्थु दय किज्जइ पुग्वावरविरोहु न कहिज्जइ ।

2.11

धम्म (धम्म) 1/1 अहिंसालक्षणलक्खिउ [(अहिंसा)-(लक्ख→लक्खिअ) भूकृ 1/1] किज्जइ (क→किज्ज) व कर्म 3/1 सक आगमेण (आगम) 3/1 सुपरिक्खिउ (सु-परिक्ख→सु-परिक्खिअ) भूकृ 1/1 ।

आगमु (आगम) 1/1 सो (त) 1/1 सवि जि (अ)=ही जित्थु (अ)=जहां पर दय (दया) 1/1 किज्जइ (क→किज्ज) व कर्म 3/1 सक पुग्वावरविरोहु [(पुव्)+(अवर)+(विरोहु)] [(पुव्) वि—(अवर) वि—(विरोहु) 1/1] न (अ)=नहीं कहिज्जइ (कह) व कर्म 3/1 सक ।

धर्म अहिंसा-लक्षण के रूप में परिभाषा किया हुआ (है); (यह परिभाषा) आगम के द्वारा भली प्रकार से जांची हुई (है)। (इसलिए) ग्रहण की जाती है।

आगम वही (है) जहां पर दया वर्णन की जाती है (और) पूर्वापर (पूर्ववर्ती और परवर्ती में) विरोध नहीं कहा जाता है।

संकेत सूची

(अ)	— अव्यय (इसका अर्थ = लगाकर लिखा गया है) ।	भूकृ	— भूतकालिक कृदन्त
अक	— अकर्मक क्रिया	व	— वर्तमानकाल
अनि	— अनियमित	वकृ	— वर्तमान कृदन्त
कर्म	— कर्मवाच्य	वि	— विशेषण
(क्रि वि अ)	— क्रिया विशेषण अव्यय (इसका अर्थ=लगाकर लिखा गया है) ।	विधि	— विधि
प्रे	— प्रेरणार्थक क्रिया	स	— सर्वनाम
भवि	— भविष्यत्काल	संकृ	— सम्बन्धक कृदन्त
भाव	— भाववाच्य	सक	— सकर्मक क्रिया
भू	— भूतकाल	सवि	— सर्वनाम विशेषण
		स्त्री	— स्त्रीलिंग
		हेकृ	— हेत्वर्थ कृदन्त
		()	— इस प्रकार के कोष्ठक में मूल शब्द रखा है ।

[()+()+().....]

इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर + चिह्न किन्हीं शब्दों में संधि का द्योतक है। यहां अन्दर कोष्ठकों में गाथा के शब्द ही रख दिये गये हैं।

[()-()-().....]

इस प्रकार के कोष्ठक के अन्दर — चिह्न समास का द्योतक है।

—जहां कोष्ठक के बाहर केवल संख्या (जैसे 1/1, 2/1....) आदि ही लिखी है, वहां कोष्ठक के अंदर का शब्द संज्ञा है।

—जहां कर्मवाच्य कृदन्त, आदि प्राकृत के नियमानुसार नहीं बने हैं, वहाँ कोष्ठक के बाहर 'अनि' भी लिखा गया है।

1/1	—	प्रथमा/एकवचन
1/2	—	प्रथमा/बहुवचन
2/1	—	द्वितीया/एकवचन
2/2	—	द्वितीया/बहुवचन
3/1	—	तृतीया/एकवचन
3/2	—	तृतीया/बहुवचन
4/1	—	चतुर्थी/एकवचन
4/2	—	चतुर्थी/बहुवचन

1/1	अक या सक	—	उत्तम पुरुष/ एकवचन
1/2	अ याक सक	—	उत्तम पुरुष/ बहुवचन
2/1	अक या सक	—	मध्यम पुरुष/ एकवचन
2/2	अक या सक	—	मध्यम पुरुष/ बहुवचन
3/1	अक या सक	—	अन्य पुरुष/ एकवचन
3/2	अक या सक	—	अन्य पुरुष/ बहुवचन
5/1	—	—	पंचमी/एकवचन
5/2	—	—	पंचमी/बहुवचन
6/1	—	—	षष्ठी/एकवचन
6/2	—	—	षष्ठी/बहुवचन
7/1	—	—	सप्तमी/एकवचन
7/2	—	—	सप्तमी/बहुवचन
8/1	—	—	संबोधन/एकवचन
8/2	—	—	संबोधन/बहुवचन

जम्बूस्वामीचरित विषयक जैनसाहित्य

—डॉ. कपूरचन्द जैन

—डॉ. (श्रीमती) ज्योति जैन



श्रमण संस्कृति की जैन परम्परा में 24 तीर्थंकर हुए, जिनमें अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं। महावीर का निर्वाण ई. पू. 527 में हुआ था। महावीर निर्वाण के पश्चात् तीन केवली और पाँच श्रुतकेवली हुए। केवलियों में गौतम गणधर, सुधर्मा और जम्बूस्वामी की गणना की गई है। इनका सम्मिलित काल 62 वर्ष है।¹ महावीर निर्वाण के पश्चात् गौतम 12 वर्ष, सुधर्मस्वामी 11 वर्ष और जम्बूस्वामी 39 वर्ष रहे। इसके बाद कोई केवली नहीं हुआ।

श्वेताम्बर परम्परानुसार भगवान् महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी सुधर्मा हुए जिनका काल 20 वर्ष है तदनन्तर जम्बूस्वामी केवली हुए, इस प्रकार जम्बूस्वामी के अन्तिम केवली मानने में दोनों मत एकमत हैं।²

जम्बूस्वामी के पश्चात् दिगम्बर परम्परानुसार 5 और श्वेताम्बर परम्परानुसार 6 श्रुतकेवली हुए। इस प्रकार अन्तिम केवली होने के कारण जम्बूस्वामी जैन सम्प्रदाय में उसी प्रकार मान्य और पूज्य हैं जैसे तीर्थंकर और अन्य मोक्ष प्राप्त जीव। यही कारण है कि संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि सभी भाषाओं के कवियों ने उनके चरित्र को अपना वर्ण्य और विवेच्य विषय बनाया। जम्बूस्वामी विषयक जैन साहित्य के विवेचन से ज्ञात होता है कि प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की अपेक्षा हिन्दी में उन्हें आधार बनाकर अधिक ग्रन्थ लिखे गये।

जम्बूस्वामी विषयक साहित्य के विवेचन से पूर्व जम्बूस्वामी-चरित्र को संक्षेप में जान लेना असमीचीन नहीं होगा।

मगध जनपद में राजगृह नाम का सुन्दर नगर है, जहाँ भगवान् महावीर का समवशरण आया। वहाँ राजा श्रेणिक ने अन्तिम केवली का चरित्र भगवान् से पूछा। तब गौतम गणधर ने कहा —

मगध के वर्धमान ग्राम में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके भवदत्त और भवदेव दो पुत्र हुए। पिता के स्वर्गवास और माता के सती हो जाने पर विरक्त होकर भवदत्त ने सुधर्ममुनि से दीक्षा ले ली।

12 वर्ष के बाद संघ पुनः भवदत्त के नगर में आया अतः भवदत्त अपने छोटे भाई भवदेव को दीक्षित करने की इच्छा से गुर्वाज्ञा से भवदेव के घर गया और वहीं आहार किया। लौटते समय भवदेव उन्हें पहुँचाने सुधर्ममुनि के संघ तक आया जहाँ भवदेव ने भाई के समझाने पर संकोचवश और बेमन से मुनिदीक्षा ले ली, पर उसका मन अपनी मंगेतर 'नागवसू' में ही लगा रहा। भवदेव ने संघ में 12 वर्ष बिताये।

12 वर्ष बाद संघ पुनः उसी नगर में आया। मुनि भवदेव बहाना बनाकर गांव में आ गये, रास्ते में ही उनकी अपनी मंगेतर से भेंट हो गई जो व्रतादि के कारण कृशगात्रा थी। नागवसू से वार्तालाप करते समय उनकी शेष भोगेच्छा प्रकट हो गई पर नागवसू के समझाने पर वे पुनः प्रायश्चित्तपूर्वक तप करने लगे और तृतीय स्वर्ग प्राप्त किया।

अनन्तर भवदेव का जीव पूर्वं विदेह में राजा महापद्म का पुत्र शिवकुमार हुआ और गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए भी धर्मारोधना कर स्वर्ग में देव हुआ।

तदनन्तर भवदेव का जीव राजगृह में अरहदास श्रेष्ठी के यहाँ जम्बूकुमार नाम का पुत्र हुआ। सुधर्मस्वामी के उपवन में आने पर जम्बूकुमार दीक्षा लेना चाहते हैं, पर माता के समझाने पर रुक जाते हैं। इधर चार सुन्दर कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया जाता है।

जम्बूकुमार के हृदय में पुनः वैराग्य जागृत होता है, पत्नियाँ और माता उन्हें समझाती हैं, समझाते-समझाते आधी रात बीत जाती है, तभी विद्युच्चर चोर चोरी करने आता है। माँ से जम्बूस्वामी के वैराग्य की भावना जानकर वह कहता है कि या तो जम्बू को रागी बना दूंगा या स्वयं वैराग्य धारण कर लूंगा। तब जम्बूकुमार की माता विद्युच्चर को अपना छोटा भाई कहकर जम्बू के पास ले जाती है।

जम्बूकुमार और विद्युच्चर दोनों एक दूसरे को अपने-अपने तर्कों और आख्यानों से प्रभावित करना चाहते हैं। एक रागी बनाना चाहता है तो दूसरा विरागी। अन्त में जम्बूकुमार की जीत होती है और वे दीक्षा लेकर, कठोर तप तपकर केवलज्ञान प्राप्त कर मुक्तिश्री का वरण करते हैं। इस प्रकार जम्बूकुमार का चरित्र राग से विराग की कहानी है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के साहित्य और आगम ग्रन्थों में जम्बूस्वामी का चरित्र विस्तार से वर्णित है। दिगम्बर जैनों के धवला, जयधवला, तिलोयपण्णती, जम्बूदीवपण्णति संगहो (पद्मनन्दि) आदि तथा श्वेताम्बरों की विभिन्न स्थविरावलियों और पट्टावलियों में भगवान् महावीर के बाद की आचार्य परम्परा दी गई है। गुणभद्राचार्य कृत 'उत्तरपुराण', पुष्पदन्त कृत 'महापुराण', श्रीप्रभ कृत प्राकृतग्रन्थ 'धम्मविहियपरण', संघदासगणि कृत 'वसुदेवाहिंडी', धर्मदासगणि की 'उवएसमाला', जयसिंहसूरि कृत 'धर्मोपदेशमाला-विवरण', भद्रेश्वरसूरि की 'कहावली', रत्नप्रभसूरि कृत 'उपदेशमाला पर विशेषवृत्ति', हेमचंद्राचार्य कृत 'परिशिष्ट पर्व' तथा उदयप्रभसूरि के 'धर्माभ्युदय' काव्य में जम्बूस्वामी की कथा आई है। कथाकोषों में उनकी कथा वर्णित है। उनके चरित्र को लेकर जो स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे गये उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है —

जम्बूचरियं³

जम्बूस्वामी-चरित विषयक ग्रन्थों में प्राकृत भाषा का जंबूचरियं महत्त्वपूर्ण काव्य है। इसके रचयिता नाइलगच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य या प्रशिष्य गुणपालमुनि हैं। डॉ. जगदीशचंद्र जैन ने गुणपाल का समय विक्रम की 11वीं शती या उससे कुछ पूर्व माना है।⁴ जबकि डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इन्हें 9वीं शती के आस-पास स्वीकार किया है।⁵ गुणपाल की एक अन्य कृति 'रिसिदत्ताचरियं' है जिसकी ताड़पत्रीय प्रति पूना में सुरक्षित है।⁶

महाराष्ट्री प्राकृत में रचित इस काव्य में 16 उद्देश्य हैं। प्रारम्भ के तीन उद्देश्यों में काव्य की उपस्थापना है, चौथे में राजा श्रेणिक जब महावीर से प्रश्न करते हैं तब महावीर जम्बूस्वामी के पूर्व भव सुनाते हैं। जम्बूस्वामी के विवाह और दीक्षा का सुन्दर वर्णन हुआ है। इसका प्रकृति-चित्रण अतूठा है। कहानियाँ बड़ी उपदेशप्रद हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

जं कल्ले कायव्वं अज्जं चिय तं करेह तुरमाणा ।

बहुविग्घोय मुहुत्तो मा अवरण्हं पडिक्खेह ॥7

जम्बूचरियं

जंबूचरियं नाम से ही दूसरी रचना उपाध्याय पद्मसुन्दर की प्राप्त होती है। पद्मसुन्दर पद्ममेरु के शिष्य थे जो नागौर तपागच्छ के विद्वान् और बादशाह अकबर के 33 हिन्दू सभासदों में प्रधान थे। 'अकबरशाहि शृंगारदर्पण' की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पद्मसुन्दर के दादागुरु आनन्दमेरु का अकबर के पिता हुमायूँ और पितामह बाबर के दरबार में बड़ा सम्मान था।⁸

पद्मसुन्दर समन्वयवादी आचार्य थे। उनका समय ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्ध निश्चित है।⁹ उनके अन्य ग्रन्थ हैं—रायमल्लाभ्युदय, भविष्यदत्तचरित्र, पार्श्वनाथ काव्य, प्रमाण सुन्दर, शब्दार्णव, शृंगारदर्पण, हायनसुन्दर।

उक्त काव्य में 21 उद्देश्य हैं इसे 'आलापकस्वरूप-जंबूहटान्त' या 'जंबू अध्ययन' भी कहते हैं। इसकी भाषा प्राकृत है और प्रारम्भ 'तेरां कालेरा' से हुआ है।¹⁰

जंबूसामिचरियं¹¹

प्राकृत में जंबूसामिचरियं की रचना जिनविजय महाराज ने की है जो अर्धमागधी प्राकृत में है। इस ग्रन्थ की प्रति संवत् 1814 फाल्गुन सुदि 9 शनिवार के दिन भावनगर में लिखी गई थी। डॉ. चौधरी ने इसका वास्तविक रचनाकाल वि. सं. 1775-1809 के बीच माना है¹² और डॉ. चौधरी ने ही इसकी रचना का समय 5वीं शती होने का अनुमान लगाया है यतः इसकी रचना आगमों की गद्य-शैली में हुई है।¹³ जिनविजय ने विजयदया सूरिधर के आदेश से इसकी रचना की थी।

प्राकृत गद्य में रचित इस कृति में यत्र-तत्र सुभाषितों के रूप में प्राकृत पद्य भी उद्धृत किये गये हैं। रचना सुन्दर और अनुकरणीय है।

जंबूसामिचरिउ¹⁴

महाकवि वीर का जंबूसामिचरिउ काव्य उपलब्ध अपभ्रंश भाषा के चरितकाव्यों में सबसे प्राचीन चरितग्रन्थ है।¹⁵ महाकवि वीर अपभ्रंश भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने मालवा के धक्कड़वंश-तिलक तक्खडु श्रेष्ठी की प्रेरणा से उक्त काव्य की रचना की थी। ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम देवदत्त था जो लाडबागड़ गोत्रीय तथा गुलखेड देश के निवासी थे।¹⁶ पिता भी कवि थे, उनकी चार रचनाओं का उल्लेख प्राप्त है। वीर ने अपने पिता को स्वयंभू तथा पुष्पदन्त के पश्चात् तीसरा स्थान दिया है। इनकी माता का नाम सन्तुवा था। इनकी चार पत्नियाँ और नेमिचन्द्र नाम का एक पुत्र भी था। वीर भक्तिरस के कवि थे, उन्होंने जिनमन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठा कराई थी।

ग्रन्थ की निम्न प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि विक्रम के 1076 वर्ष बीत जाने पर माघ शुक्ल दशमी के दिन जंबूसामिचरिउ रचा गया अतः वीर का समय वि. सं. 1076-57 = 1019 ईसा मानना चाहिए। प्रशस्ति है —

बिक्कमनिवकालाओ छाहात्तरदससएसु वरिसाणं ।

माहम्मि सुद्धपक्खे दसम्मि दिवसम्मि संतम्मि ॥ 2 ॥

महाकवि वीर की यह एक ही रचना उपलब्ध है। इसमें 11 संधियाँ हैं। मंगला-चरणोपरान्त दुर्जननिन्दा-सज्जनप्रशंसा की गई है तथा पूर्ववर्ती कवियों का स्मरण भी वीर कवि ने किया है। इसमें शास्त्रीय महाकाव्य के सभी लक्षण घटित होते हैं। महाकवि ने ग्रन्थ के बीच बीच में संस्कृत में आत्मप्रशंसा की है परन्तु कथा-प्रवाह में सभी कथानकरूढ़ियों का निर्वाह किया गया है यद्यपि नाना साहित्यिक शैलियों और वर्णनों के अनुसरण के मोह से कथानक अस्वाभाविक हो उठा है।¹⁷

इस पर अश्वघोष कृत सौन्दरनन्द की अत्यल्प छाया देखी जा सकती है। सभी रसों, अलंकारों, गुणों और छन्दों का सुन्दर समन्वय यहाँ हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें सम्भवतः वीर ने अपने ही व्यक्तित्व का आकलन किया है —

वेत्सं वरिहं परवसणवुम्मणं सरसकव्वसव्वस्सं ।
 कइवीरसरिसपुरिसं घरणिघरंती कयत्थासी ॥
 हत्थे चाओ चरणपणमणं साहुसीत्ताण सीसे ।
 सच्चावाणी वयणकमलए वच्चे सच्चापवित्ती ॥

जम्बूस्वामीचरित्र¹⁸

राजमल्ल कवि ने संस्कृत भाषा में जम्बूस्वामीचरित्र की रचना की। कवि ने अपनी अन्य कृति लाटीसंहिता में अपना अल्प परिचय दिया है, तदनुसार ये काष्ठासंधी भट्टारक हेमचन्द्र की आश्रमाय के थे। नेमिचन्द्र शास्त्री के अनुमानानुसार ये गृहस्थ या ब्रह्मचारी रहे होंगे मुनि नहीं।¹⁹

लाटीसंहिता की प्रशस्ति के अनुसार उन्होंने यह काव्य 1641 वि.सं. (1584 ई.) की आश्विन दसमी रविवार को पूर्ण किया था।²⁰ अतः उनका समय ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए। जम्बूस्वामीचरित्र इससे पूर्व वि. सं. 1632 में लिखा जा चुका था। प्रशस्ति के अनुसार राजमल्ल ने आगरा में रहकर साहु टोडर की प्रेरणा से उक्त काव्य की रचना की थी।

राजमल्ल प्रतिभासम्पन्न विद्वान् भक्तकवि थे, उनकी निम्न कृतियां उपलब्ध हैं—

जम्बूस्वामीचरित्र, लाटीसंहिता, पञ्चाध्यायी, पिगलशास्त्र, अध्यात्म-कमलमार्तण्ड।

जम्बूस्वामीचरित्र के 13 सर्गों में 2400 पद्य हैं। इसमें आगरा का अत्यधिक सुन्दर चित्रण हुआ है। पूर्व के चार सर्गों में जम्बू के पूर्वभव और बाद के सर्गों में चरित्र वर्णित है। सुन्दर सूक्तियों का समुचित समावेश है। उपदेश तत्त्व की बहुलता है। सभी रसों, छन्दों और गुणों का सुन्दर समायोजन हुआ है। युद्धक्षेत्र का एक वर्णन द्रष्टव्य है—

प्रस्फुरत्स्फुरदन्नोधाः भटाः संदर्शिताः परे ।
 औत्पात्तिका इवानीला सोल्का मेधाः समुत्थिताः ॥
 करवालं करालाघ्रं करे कृत्वाऽभयोऽपरः ।
 पश्यन् मुखरसं तस्मिन् स्वसौन्दर्यं परिजज्ञिवान् ॥

जम्बूस्वामीचरित 7.104-105

जम्बूस्वामीचरित

भट्टारक सकलकीर्ति का जम्बूस्वामीचरित संस्कृत भाषा में उपलब्ध होता है। सकलकीर्ति ने अनेक संस्कृत और हिन्दी पुस्तकों की रचना की है। हरिवंशपुराण की प्रशस्ति में ब्रह्म जिनदास ने इन्हें महाकवि कहा है।²¹ इनका जन्म 1326 ई. में हुआ। इनके पिता का नाम कर्मसिंह और माता का नाम शोभा था। ये हूंबड़ जाति और अग्निहलपुर पट्टन के रहनेवाले थे। सन् 1406 में उन्होंने नैणवां नामक स्थान में भट्टारक पद्मनन्दि से दीक्षा ली। उन्होंने बलात्काराण ईडर शाखा का आरम्भ किया।²² डॉ. प्रेमसागर के अनुसार ये प्रतिष्ठाचार्य भी थे। उन्होंने मन्दिर बनवाकर प्रतिष्ठायें करायीं।²³

भट्टारक सकलकीर्ति बहुश्रुत विद्वान् थे । उन्होंने अनेक कृतियों का प्रणयन किया जिनका विवरण डॉ. शास्त्री ने 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा' के तीसरे भाग में दिया है ।

जम्बूस्वामीचरित²⁴

इसके लेखक अचलगच्छीय जयशेखरसूरि हैं । इनका समय 1381 ई. है । इसके 6 सर्गों में 726 श्लोक हैं । गुणपाल की कथाओं में कुछ परिवर्तन किया गया है । भाषा हृदयग्राही संस्कृत है ।

जम्बूस्वामीचरित

पूर्वोक्त भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य और लघु भ्राता ब्रह्म जिनदास ने भी जम्बूस्वामी चरित काव्य लिखा । ये बलात्कारगण की ईडर शाखा के संस्थापक के लघु भ्राता होने के कारण अत्यधिक सम्मानपूर्ण कवि थे । माता का नाम शोभा और पिता का नाम कर्मसिंह था । इनके समयादि के सन्दर्भ में कोई निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं होती । डॉ. नेमीचन्द शास्त्री ने विभिन्न तथ्यों के आधार पर इनका समय 1450-1525 वि.सं. माना है ।²⁵ इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि मनोहर, मल्लिदास, गुणदास, नेमिदास इनके शिष्य थे । जम्बूस्वामीचरित की रचना में उन्हें अपने एक शिष्य ब्रह्मचारी धर्मदास के मित्र कवि महोदय से सहायता प्राप्त हुई थी ।²⁶

ब्रह्म जिनदास का संस्कृत, हिन्दी, गुजराती और राजस्थानी पर समान अधिकार था । संस्कृत में उन्होंने जम्बूस्वामीचरित के अतिरिक्त रामचरित, हरिवंशपुराण तथा अनेक पूजायें लिखीं । हिन्दी और राजस्थानी के लगभग 50 ग्रन्थों का परिचय डॉ. नेमिचन्द शास्त्री ने दिया है ।²⁷ 'महाकवि ब्रह्म जिनदास' नामक डॉ. रावका के शोध-प्रबन्ध में जिनदास की सत्तर हिन्दी कृतियों का परिचय दिया गया है²⁸ जिनमें एक जम्बूस्वामी रास भी है ।

जम्बूस्वामीचरित में 11 सर्ग हैं । वीर के जम्बूसामिचरित से यह अत्यधिक प्रभावित हैं । शृंगार और वीर रस का सुन्दर परिपाक यहां हुआ है । जगह-जगह सुभाषितों का प्रयोग हुआ है ।

जम्बूस्वामी रास

उक्त ब्रह्म जिनदास की हिन्दी कृति जम्बूस्वामी रास है जिसमें 'रास' शैली में जम्बूकुमार का चरित्र वर्णित है । इसमें 1005 छन्द हैं । एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

जम्बूकुमार सोहमणोए सिणागारियो अतिभामणो ।

गज चडिय परणेवा ते चालियो ए सही ए ॥

जम्बूस्वामी विवाहला

हीरानन्द सूरि ने वि. सं. 1495 में उक्त काव्य की रचना की । हीरानन्द सूरि पिप्पलगच्छीय श्री वीरप्रभ सूरि के शिष्य थे । 'जैन गुर्जरकवियों' के तीसरे भाग में इस पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । हीरानन्द सूरि की अन्य हिन्दी रचनाएँ निम्न हैं—

वस्तुपाल-तेजपालरास, विद्याविलासपवाडो, कलिकालरास, दशार्णभद्ररास, स्थूलभद्र बारहमासा ।

जम्बूस्वामी विवाहला की भाषा सरल राजस्थानी है । इसका मंगल पद्य द्रष्टव्य है, जिसमें वीर जिनेश्वर, गौतमगणधर और देवी सरस्वती का स्मरण किया गया है—

वीर जिणोसर पणभीम पाय, गणहर गोअम मनिधरीअ
समरी सरसती कवि अणपाय, वीणा पुस्तक धारिणी ए ।
बोलिसु जम्बूचरित रसाल, नवनव भाव सोहाभणुअ
रयणह संख्या ढाल रसाल, भविअण भाविहँ सौभलुए ॥२०

जम्बू चौपाई

जूनी गुजराती और राजस्थानी भाषा में मुनि हरिकलश ने वि. सं. 1621 के आस-पास उक्त काव्य की रचना की । मुनि हरिकलश खरतरगच्छीय उपाध्याय देवतिलक के शिष्य थे ।³⁰

जम्बूस्वामीचरित्र

इसके लेखक पाण्डे जिनदास हैं । जम्बूस्वामीचरित्र में उन्होंने जो परिचय दिया है उसके अनुसार जिनदास आगरा निवासी ब्रह्मचारी सन्तीदास के पुत्र थे । जिनदास का समय ईसा की सोलहवीं शती है । यतः उन्होंने वि. सं. 1642 में उक्त काव्य रचा । लेखक ने अकबर के मंत्री टोडरशाह के पठनार्थ जम्बूस्वामीचरित्र की रचना की थी । इनकी अन्य रचनाएँ योगीरासा, जखडी, चेतनगीत, मुनीश्वरों की जयमाल, मालोरासा आदि हैं ।³¹ जम्बूस्वामीचरित्र की भाषा सरल और सरस है । भाव विषयानुकूल हैं । उपदेशपरकता पाई जाती है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें श्रेणिक के महावीर के समवसरण में पहुंचने का वर्णन है—

मानस्थम्भ पास जब गयो, गयो मान कोमल मन भयो ।
तीन प्रवच्छिन्ना दीनी राइ, राजा हरण्य अंगि न माइ ॥८॥
नमसकार कर पूज कराइ, पुणि मुनि कोठे बैठो आइ ।
परमेसुर स्तुति राजा करे, बारबार भगति उअरे ॥९॥

जम्बूचरित्र

इसके लेखक खुशालचन्द काला के ही अनुसार उनके पिता का नाम सुन्दर और माता का नाम अमिधा था । जन्म सांगानेर में हुआ था । प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि इनके गुरु मूलसंधी पं. लक्ष्मीदास थे । गोकुलचन्द्र की प्रेरणा से इन्होंने हरिवंशपुराण का पद्यानुवाद किया था । डॉ. प्रेमसागर ने इनका समय ईसा की अठारहवीं शती का उत्तरार्ध स्वीकारा है यतः इनकी अधिकांश रचनाएँ वि. सं. 1775-1800 के मध्य की हैं ।³² काला की अन्य रचनाएँ हैं—

उत्तरपुराण, धन्यकुमारचरित्र, यशोधरचरित्र, सद्भाषितावाली, पद्मपुराण, व्रतकथाकोश, चौबीसी पाठ ।

जम्बूस्वामीचरित

नथमल बिलाला ने वि. सं. 1824-50 के मध्य उक्त काव्य की रचना की। इनके पिता का नाम शोभाचन्द्र था तथा गोत्र बिलाला। इनकी अन्य रचनाएँ हैं—सिद्धान्तसार दीपक, जिनगुणखिलास, नागकुमार चरित, जीवन्धर चरित।³³

जम्बूस्वामीबेलि

17वीं शती के प्रतिभासम्पन्न विद्वान् भट्टारक वीरचन्द ने जम्बूस्वामीबेलि की रचना हिन्दी भाषा में की। ये भट्टारकीय परम्परा के बलात्कार गण की सूरत शाखा के भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की परम्परा में लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य थे, व्याकरण तथा न्यायशास्त्र के प्रकाण्डवेत्ता थे।³⁴ इनकी अन्य रचनाएँ हैं—वीरविलासफाग, जिनान्तर, सीमन्धरस्वामीगीत, सम्बोधसत्ताणु, नेमिनाथरास, चिन्तानिरोध कथा और बाहुवलिबेलि। जम्बूस्वामीबेलि की भाषा गुजराती मिश्रित राजस्थानी है।

जम्बूस्वामीरास³⁵

कविवर भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति कृत जम्बूस्वामीरास भी रासशैली का महत्त्वपूर्ण काव्य है। त्रिभुवनकीर्ति भट्टारकीय परम्परा के रामसेनान्वय भट्टारक उदयसेन के शिष्य थे।³⁶ इनके जन्म, माता-पिता, अध्ययन, दीक्षा आदि के सन्दर्भ में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। इनका समय विक्रम की सतरहवीं शती है यतः इन्होंने वि. सं. 1625 में जम्बूस्वामीरास की रचना की थी।³⁷ इनकी एक अन्य कृति जीवन्धररास भी उपलब्ध है।

जम्बूस्वामीरास एक प्रबन्धकाव्य है। इसमें दूहा, चउपाई आदि विभिन्न छन्दों का प्रयोग है। कथा का विभाजन सर्गों में नहीं हुआ है। कुल 677 छन्द हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें महारानी चेलना के गुण एवं लावण्य का सुन्दर चित्रण है—

ते घरि राणी चेलना कही, सती सिरोमणि जाणु सही ।
समकित भूक्षउ तास सरीर, धर्म ध्यान घरि मनधीर ॥
हंसगति चालि चमकती, रूपी रंभा जाणउ सती ।
मस्तक बेणी सोहि सार, कंठ सोहिए काडल हार ॥
काने कुण्डल रत्ने जड्या, चरणे नेउर सोवन घड्या ।
मधुर वयण बोलि सुविचार, अंग अनोपम दीसी सार ॥

—जम्बूस्वामीरास 19-21

जम्बूस्वामीरास

जम्बूस्वामीरास नाम की एक अन्य कृति भट्टारक भुवनकीर्ति की उपलब्ध है। ये सकलकीर्ति भट्टारक के प्रधान शिष्य थे। सकलकीर्ति के पश्चात् उनकी गद्दी भुवनकीर्ति को ही प्राप्त हुई थी।³⁸ डॉ. शास्त्री ने विभिन्न प्रमाणों के आधार पर इनका समय वि. सं. की

सोलहवीं शती का पूर्वार्ध निश्चित किया है।³⁹ मुवनकीर्ति ने ग्रन्थ रत्नमा के साथ-साथ प्रतिष्ठायें भी करायी थीं। वि. सं. 1511 में इसके उपदेश से हूबड़ जातीय श्रावक करमरा एवं उसके परिवार ने चौबीसी प्रतिमा स्थापित की थी। वि. सं. 1513, 1525 एवं 1527 में भी उन्होंने प्रतिष्ठायें कराई थीं।⁴⁰

‘जम्बूस्वामीरास’ के अतिरिक्त ‘जीवन्धररास’ और ‘अञ्जनाचरित’ नामक इनके दो ग्रन्थ और उपलब्ध होते हैं। जम्बूस्वामीरास में जम्बूस्वामी के पावन चरित्र का रासशैली में अंकन किया गया है।

जम्बूस्वामीचरित्र

जम्बूस्वामी का चरित्र न केवल प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत और हिन्दी कवियों को ही प्रिय रहा अपितु मराठी भाषा के कवियों को भी उसने आकर्षित किया है। सच है महापुरुष किसी देश, जाति या भाषा में नहीं बांधे जा सकते। पण्डित दामा ने मराठी भाषा में 17वीं शती के उत्तरार्ध में जम्बूस्वामीचरित्र की रचना की। मराठी भाषा का यही अकेला जम्बूकथा विषयक काव्य है। दामा पण्डित की एक अन्य कृति ‘दानशीतलतप भावना’ है जिसमें भगवान् महावीर के समवशरण में दान, शील, तप आदि भाव अपनी-अपनी श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हैं।

जम्बूस्वामीचरित्र में 16 अध्याय और 1915 श्लोका हैं।⁴¹ शक संवत् 1610-1615 के मध्य रत्नसा ने उक्त काव्य का परिवर्द्धित संस्करण तैयार किया था जिसमें 14 अध्याय हैं।⁴²

जम्बूकुमारचरित्र

इसके लेखक भट्टारक यशकीर्ति हैं। इसकी भाषा हिन्दी है। इसकी हस्तलिखित प्रति भट्टारकीय ग्रन्थ भण्डार नागौर में है।⁴³

जम्बूस्वामीचरित्र

इसके लेखक गुणनिधानसूरि हैं। भाषा संस्कृत है। इनका समय वि. सं. 1339 है। इसकी प्रति भी उक्त भण्डार में है।⁴⁴

इसके अतिरिक्त अनेक शोध-प्रबन्ध जम्बूस्वामीचरित विषयक काव्यों और उनके लेखकों पर लिखे गये हैं जिनमें दो शोध-प्रबन्ध महाकवि श्रीर के जम्बूसामिचरित्र पर हैं। पहला शोध-प्रबन्ध डॉ. विमलप्रकाश जैन ने 1968 में ‘वीर-कृत जम्बूस्वामी के जीवनचरित्र का समालोचनात्मक अध्ययन’ शीर्षक से रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया था जिस पर उन्हें पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त हुई थी। दूसरा शोध-प्रबन्ध डॉ. कमला गुप्ता ने डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन के निर्देशन में ‘जम्बूसामिचरित्र-कथावस्तु का समग्र अनुशीलन’ नाम से इन्दौर विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया था।

इसी प्रकार जम्बूस्वामीचरित विषयक काव्यों और उनके लेखकों पर भी अनेक शोध-प्रबन्ध हमारी जानकारी में हैं जिनका परिचय देना इस लघु लेख में संभव नहीं। अस्तु

जम्बूस्वामीचरित्र विषयक अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख जिनरत्नकोश⁴⁵ में हुआ है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री⁴⁶ ने भी कुछ कृतियों का उल्लेख किया है। डॉ. गुलाबचन्द चौधरी ने⁴⁷ भी एतद्विषयक काव्यों की सूची प्रस्तुत की है विशेषतः संस्कृत-प्राकृत काव्यों की। इनके आधार पर हम भी अप्राप्त काव्यों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं—

1. दम्भासागर	जम्बूस्वामीचरित	17वीं शती विक्रम
2. जिनसेन	जम्बूस्वामी पुराण	17वीं शती ,,
3. अज्ञात (रत्नसिंह शिष्य)	जम्बूस्वामीचरित (संस्कृत)	17वीं ,, ,,
4. सकलचन्द्र	जम्बूचरिय (प्राकृत)	16वीं ,, ,,
5. प्रद्युम्नसूरि	जम्बूचरित्र	16वीं ,, ,,
6. विद्याभूषण भट्टारक	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत)	17वीं ,, ,,
7. पद्मसुन्दर	जम्बूसामिचरिय (प्राकृत)	अज्ञात
8. सकलहर्ष	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत)	अज्ञात
9. मानसिंह	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत)	अज्ञात
10. अज्ञात	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृतगद्य)	अज्ञात
11. अज्ञात	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत)	अज्ञात
12. अज्ञात	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत गद्य)	अज्ञात
13. अज्ञात	जम्बूस्वामीचरित्र (संस्कृत)	अज्ञात
14. अज्ञात	जम्बूचरित्र (अपभ्रंश)	अज्ञात
15. अज्ञात	जम्बूस्वामीचरिय (प्राकृत)	अज्ञात

इस प्रकार जम्बूस्वामी के चरित्र पर विस्तार से काव्य-सृजन हुआ है जो जम्बूचरित्र की विशेषता के साथ ही जैन कवियों की विकसोन्मुखी चेतना का परिचायक है। वस्तुतः यह विषय अनेक स्वतन्त्र शोध-प्रबन्धों की अपेक्षा रखता है। शोध-निदेशकों और शोधकर्ताओं को इस ओर दत्तावधान होना चाहिये।

1. जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तरिमं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥
तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामित्ति केवली जादो ।
तत्थवि सिद्धिपवण्णे केवल्लिणो णत्थि अणुबद्धा ॥
वासठ्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं ।
धम्मपयट्टणकाले परिमारां पिडरूवेण ॥

—तिलोयपण्णत्ती 4. 1476-1478

2. मुनि नथमल, जैनदर्शन मनन और मीमांसा, चुरू 1977, पृष्ठ 111 ।
3. सिंघी जैन ग्रंथमाला बम्बई से 1959 ई. में प्रकाशित प्राकृत साहित्य का इतिहास, जगदीशचन्द्र जैन ।

4. जैन जगदीशचन्द्र, प्राकृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, पृ. 535 ।
5. शास्त्री नेमिचन्द्र, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी 1966, पृष्ठ 341 ।
6. वही, पृष्ठ 341 ।
7. मिलाइये— काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल में परलै होयगी, बहुरि करेगा कब ॥
8. चौधरी गुलाबचन्द्र, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 6, पृ. 67 ।
9. प्रेमी, जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ 395-96 ।
10. चौधरी गुलाबचन्द्र, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 6, पृ. 157 ।
11. जैन साहित्यवर्धक सभा, भावनगर से 1947 ई. में प्रकाशित ।
- 12-13. चौधरी गुलाबचन्द्र, जैन सा. का. वृ. इतिहास भाग 6, पृष्ठ 159 ।
14. भारतीय ज्ञानपीठ से 1968 में प्रकाशित ।
15. शास्त्री परमानन्द जैन, अपभ्रंश भाषा का जंबूस्वामी चरित और महाकवि वीर (प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, 1946, पृष्ठ 439) ।
16. प्रशस्ति 1.49 ।
17. जैन डॉ. देवेन्द्रकुमार, अपभ्रंश भाषा और साहित्य, भारतीय ज्ञानपीठ, 1965, पृष्ठ 135 ।
18. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से 1906 ई. में पं. जगदीशचन्द्र शास्त्री द्वारा संशोधित होकर प्रकाशित ।
19. शास्त्री नेमिचन्द्र, ती. म. और उनकी आचार्य परम्परा, सागर 1974, भाग 4, पृष्ठ 77 ।
20. (श्री)नृपतिविक्रमादित्यराज्ये परिणते सति ।
सहैकचत्तवारिंशद्भिरब्दानां शतषोडशा । 2 ।
21. "तत्पट्टपंकजविकासभारवान् बभूव निग्रन्थवरः प्रतापी ।
महाकवित्वादिकलाप्रवीणः तपोनिधिः श्रीसकलादिकीर्तिः ॥
—ती. म. और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 3, पृष्ठ 326 ।
22. वही, पृष्ठ 328 ।
23. जैन डॉ. प्रेमसागर, हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, भा. ज्ञानपीठ, 1964, पृष्ठ 56 ।
24. जैन आत्मानन्द सभा भावनगर से 1913 ई. में गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित ।
25. शास्त्री नेमिचन्द्र, ती. म. और उ. आचार्य परम्परा, भाग 3, पृष्ठ 338 ।
26. जैन प्रेमसागर, हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ 59 ।
27. ती. म. और उ. आ. प., भाग 3, पृष्ठ 339 ।
28. रावका डॉ. प्रेमचन्द्र, महाकवि ब्रह्म जिनदासः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, महावीर ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1980 ।

29. जैन डॉ. प्रेमसागर, हिन्दी जैन भक्तिकाव्य और कवि, पृष्ठ 55 ।
30. शाह अंबालाल, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, वाराणसी, पृष्ठ 186 ।
31. जैन डॉ. प्रेमसागर, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृष्ठ 125 ।
32. जैन डॉ. प्रेमसागर, हिन्दी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृष्ठ 333 ।
33. शास्त्री नेमिचंद्र, ती. म. आ. प., भाग 4, पृष्ठ 281 ।
34. शास्त्री नेमिचंद्र, ती. म. आ. प., भाग 3, पृष्ठ 275 ।
35. इसकी प्रति और लेखक के परिचयार्थ देखिये —
कासलीवाल डॉ. कस्तूरचन्द्र, महाकवि ब्रह्मरायमल्ल एवं भट्टारक त्रिभुवनकीर्ति, महावीर
ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1978 ।
36. वही, पृष्ठ 269 ।
37. संवत् सोल पंचदीसि, जवाछ नयर मभार ।
भुवन शांति जिनवर तणि, रच्यु रास मनोहार ॥ —जम्बूस्वामीरास 677 ।
38. पट्टे तदीये गुणवान् मनीषी क्षमानिधाने भुवनादिकीर्तिः ।
जीयाच्चिरं भव्यसमूहवंद्यो नानायतिव्रातनिष्प्रेणीयः ॥
—रामचरित्र (ब्रह्म जिनदास कृत), श्लोक 185 ।
- 39-40. शास्त्री नेमिचन्द्र, ती.म.आ.प., भाग 3, पृष्ठ 336-337 ।
41. शास्त्री पं. के. भुजबली और जोहरापुरकर विद्याधर, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,
वाराणसी, 1981, भाग 7, पृष्ठ 213 ।
42. वही, पृष्ठ 217 ।
- 43-44. जैन पी. सी., भट्टारकीय ग्रन्थ भण्डार नागौर का सूचीपत्र, भाग 3, जयपुर, 1985,
पृष्ठ 127, ग्रन्थ संख्या 3802 ।
45. जिनरत्नकोष, पूना, 1944 ई., पृष्ठ 129 तथा 132 ।
46. शास्त्री नेमिचन्द्र, ती. म. आ. प., भाग 4, पृष्ठ 322 ।
47. चौधरी डॉ. गुलाबचन्द्र, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृष्ठ 154-155 ।

बुद्धिरसायण ओणम चरितु दोहड़ा

—कवि नेमि प्रसाद



‘जैनविद्या’ पत्रिका के प्रारम्भ से ही संस्थान की घोषित नीति के अनुसार संस्थानान्तर्गत पाण्डुलिपि विभाग में प्राप्त अपभ्रंश भाषा की एक लघु किन्तु महत्त्वपूर्ण रचना का सानुवाद प्रकाशन किया जाता रहा है। प्रस्तुत रचना भी उसी क्रम की एक कड़ी है।

रचना दोहड़ा (दोहा) छन्द में निबद्ध है। जिस प्रकार संस्कृत कवियों को अनुष्टुप् तथा प्राकृत काव्यकारों को गायत्री छन्द प्रिय रहा है उसी प्रकार अपभ्रंश भाषा के कवियों में दोहड़ा (दोहा)। इसका कारण है उसकी विभिन्न राग-रागिनियों एवं तालों में सरलतापूर्वक गेयता। इसके अतिरिक्त इसको कण्ठस्थ करना भी अधिक कठिन नहीं है। इसीलिए कृष्णपाद आदि बौद्धसन्तों ने अपने धर्म-प्रचार के लिए इस छन्द को चुना। जैनसन्तों यथा जोइन्दु, रामसिंह, देवसेन आदि ने अपनी आध्यात्मिक रचनाएं इसी छन्द में निबद्ध कीं। वृन्द, रहीम बिहारी आदि हिन्दी कवियों को अपनी रचनाओं के लिए दोहा छंद का प्रयोग करने की प्रेरणा भी अपभ्रंश की इन ही कृतियों से मिली यह निर्विवाद है।

प्रस्तुत रचना अन्य दोहा-काव्यों की भांति मुक्तक न होकर रावण तथा मन्दोदरी के संवादरूप में है। भाषा सरल किन्तु अलंकारों, सूक्तियों, मुहावरों आदि से परिपूर्ण है। रचना

का कथानक शिक्षाप्रद है। वह देव के स्थान में पुरुषार्थ को महत्ता प्रदान करती है, साथ ही इस तथ्य का प्रतिपादन भी करती है कि मनुष्य चाहे सम्यक्त्वी तथा ज्ञानी हो किन्तु यदि वह चरित्रभ्रष्ट है तो उसे रावण की भांति नरक में जाना पड़ता है। वह जीवन को धर्ममय बनाने की प्रेरणा देते हुए कहती है कि जहां धर्म नहीं होता वहां दुःखदारिद्र्य का वास होता है।

अमुवाद साधारण पाठक के लिए भी बोधगम्य है।

आशा है पूर्व की भांति ही पाठकों द्वारा इस रचना का भी स्वागत किया जायगा।

(प्रो०) प्रवीणचन्द्र जैन
सम्पादक

अनुवादक की ओर से

भारत में सर्वप्रिय रामकथा का प्रतिनायक “रावण” वैदिक एवं वैदिकेतर सम्प्रदायों के अनुसार निर्विवाद रूप से अपने समय का एक महान् योद्धा ही नहीं अपितु, महान्तम बुद्धिमान् व्यक्ति था। चारित्रिक दृष्टि से भी उसमें निरपराध सीता का हरण करने के अतिरिक्त अन्य कोई दोष नहीं था। जैन परम्परा के अनुसार इस एक दोष के कारण ही उसे नरक में जाना पड़ा नहीं तो वह अपने उज्ज्वल चरित्र के कारण ही जैनों का भावी तीर्थंकर है। इस ही परम्परा के अनुसार उसकी रानी मन्दोदरी जैन-दीक्षा धारण कर तपस्या के कारण स्वर्ग में जाकर देव रूप में उत्पन्न हुई। रचनाकार ने अपनी रचना को इस काल्पनिक भित्ति के आधार पर रचा है कि मन्दोदरी ने देव पर्याय से आकर नरक में रावण के जीव को प्रतिबोधित किया है और उसे लक्ष्मी की अस्थिरता बताते हुए परस्त्रीहरण के पाप एवं गर्व करने का फल नरक बता कर उनसे विरत होने तथा जैनधर्म का महत्त्व बताते हुए क्षमा धारण करने को प्रेरित किया है। हमारी दृष्टि में अपने प्रकार का अनुमानतः यह पहला काव्य है।

काव्य का नाम

डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री नीमच ने अपनी ‘अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ’ नामक पुस्तक (शोध-अध्ययन) के तृतीय अध्याय की अपभ्रंश के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में पृष्ठ 222 के संख्या 173 पर ‘बुद्धिरसायण दोहड़ा’ नाम से आमेर शास्त्र भण्डार,

जयपुर (वर्तमान में जैनविद्या संस्थान, श्री महावीरजी का पाण्डुलिपि विभाग) के जिस ग्रंथ का उल्लेख किया है वह यह ही है। यथार्थ में इसका नाम 'ओणम चरितु' है जो स्वयं रचना के दोहा सं. 66 के 'ओणमचरितु पयासियउ' पद से स्पष्ट है। डॉ. शास्त्री ने 'ओणम' को 'उणम' पढ़ा है जो गलत है। पाण्डुलिपि में यह शब्द 'उणम' इस प्रकार लिखा है। यहां 'उं' को 'उ' पढ़ लेने के कारण उनसे यह भूल हुई है। पुरानी कई पाण्डुलिपियों में 'ओ' को 'उं' इस प्रकार लिखा जाता था। इस ही पाण्डुलिपि के प्रारम्भ में 'ओ नमः सिद्धेभ्यः' को 'उं नमः सिद्धेभ्यः' लिखा गया है। पूरी पाण्डुलिपि में 'ओ' को 'ओ' इस प्रकार लिखा कहीं नहीं मिलता। 'ओणम' सार्थक शब्द है जो प्राकृत के 'ओणम' का अपभ्रंश में परिवर्तित रूप है जिसका संस्कृत में रूपान्तरण 'अवनतम्' होता है। इस नाम से दक्षिण भारत में एक त्यौहार भी मनाया जाता है। इससे पहले 'बुद्धिसायण' शब्द रचना की अन्तिम पुष्पिका से ही प्राप्त होता है जो रावण का प्रतीक है। ग्रंथ में रावण के पतन के कारण का दिग्दर्शन किया गया है अतः ग्रंथ का 'बुद्धिसायण-ओणमचरितु' नाम विषयानुरूप है।

कर्त्ता का नाम

डॉ. शास्त्री ने अपनी उक्त पुस्तक के पृष्ठ 182 की संख्या 37 पर 'जिणवरदेव' को 'बुद्धिसायण' का कर्त्ता लिखा है जो भी सही नहीं है। ऐसा शायद उन्होंने दोहा 67 एवं ग्रंथ के अन्तिम पद 'जिणवरु एम भरोइ' को देख कर ही लिखा ज्ञात होता है। पूरी रचना शायद उन्होंने ध्यान से नहीं पढ़ी क्योंकि रचनाकार ने दोहा 65 के 'रोमिपसाएं भासियओ' इस पद में स्पष्ट रूप से श्लेष में अपने नाम का संकेत किया है।

रचनाकाल एवं अन्य

रचना में उसके रचनाकाल का कहीं उल्लेख नहीं है फिर भी भाषा की दृष्टि से वह 14वीं, 15वीं शताब्दी के बाद की ज्ञात नहीं होती। रचना-स्थान के सम्बन्ध में भी कोई उल्लेख नहीं होने से कुछ कहा नहीं जा सकता।

रचना की भाषागत विशेषता यह है कि उसने संज्ञा शब्दों का जहां उकारान्त प्रयोग किया है वहां भूत कृदन्त के शब्दों के साथ 'ओ' (उं) परसर्ग का प्रयोग किया है इससे भाषा विज्ञान के पण्डितों को इसके रचनाकाल एवं देश के किस भाग में रचना हुई इस सम्बन्ध में कुछ अनुमान करने में सहायता मिल सकती है। रचना की भाषा प्रवाहपूर्ण एवं अलंकारमय है। सूक्तियों, लोकोक्तियों तथा मुहावरों का प्रयोग रचना में बहुलता से है। यथा —

1. विहिणालिहिय जि अक्खरहं, भंजण कवण समत्थु ।
2. जो होणउं सो होइ ।
3. दयउ उलंघत को धरइ, जगमहि वलियउ कोइ ।
4. घत्तूरहं फल चक्खिकरि, सयलउं बुद्धि हरेइ ।
5. जं किज्जइ तं पावियए ।
6. जागतहं चोरहं मुसिओ ।

7. असुहकम्मु जह अणसरइ, तउ णिब्बइ होइ विणासु ।
8. दयविणु धम्मु ण होइ ।
9. जीवच्चलंतहं को धरइ, को सरणहं रक्खेइ ।
10. खमा सरीरहं आभरण, संजमु जासु सिगारु । आदि ।

बहुत से दोहड़े रचना में ऐसे हैं, जिन्हें सुभाषित की तरह प्रयोग किया जा सकता है, निदर्शनार्थ दोहड़ा 38, 40, 42, 44, 48, 49 एवं अन्य ।

कुछ मुहावरे भी दर्शनीय हैं —

1. सिञ्जिभयउ—सफल होने के अर्थ में । इत्यादि ।

पाठालोचन तथा अनुवाद

रचना का पाठ पाडुलिपि विभाग, श्रीमहावीरजी में उपलब्ध एक गुटके में लिपिकृत पाठ के आधार पर तैयार किया गया है । मूल पाठ ज्यों का त्यों रखा गया है किन्तु अनुवादक को जहां भी पाठ अशुद्ध ज्ञात हुआ उसे कोष्ठक में रखकर अनुमानित शुद्ध पाठ के आधार पर अनुवाद किया गया है, तथा उसके कारणों का उल्लेख अन्त में पाद-टिप्पणी में कर दिया है । इसमें भूल होने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । विज्ञ पाठकों से अनुरोध है कि जहां भी ऐसा हुआ हो उससे अनुवादक को अवगत कराने की कृपा करें जिससे कि भविष्य में इसे सुधारा जा सके ।

अनुवाद की भाषा सरल एवं सुबोध रखने का प्रयत्न किया गया है ।

आशा है पाठकों को हमारा यह प्रयास रुचिकर लगेगा । इस पर अपनी सम्मति प्रेषित कर हमारा उत्साहवर्धन एवं मार्गदर्शन करने की कृपा करें ऐसा मेरा उनसे विनम्र अनुरोध है ।

—भंवरलाल पोल्याका

कइ णेमिपसाय

बुद्धिरसायण-ओणमचरित्त-दोहड़ा

रावण सीता हरिवि करि, लग्गउ मणि पछ्छताण ।
कज्जु ण एककउ सिज्जिभयउ, अपज्जसु रहिउ णियाणि ॥ 1 ॥

रावण सीता हरिवि करि, मणहं विसूरि महत्थु ।
विहिणा लिहिय जि अक्खरहं, भंजण कवण समत्थु ॥ 2 ॥

रावण णिसुण्हि वयण तुहं, मंदोवरि पभणेइ ।
णाहं परियणु लंक तुहं, परतिय काइं हरेइ ॥ 3 ॥

रावण णिसुण्हि वयणु तुहं, मंदोयर पभणेइ ।
जाकी कारण लंघियइ, ताकी णारि हरेइ ॥ 4 ॥

रावण णिसुण्हि वयणु तुहं, मंदोवरि पभणेइ ।
कुलहं कलंकुण उच्चरइ, अपजसु महि पसरेइ ॥ 5 ॥

रावण पभणेइ सुण्हि तिय, जो होणउं सो होइ ।
दयउ उलंघत को धरइ, जगमहि बलियउ कोइ ॥ 6 ॥

कवि नेमिप्रसाद

बुद्धिरसायण-ओणमचरित-दोहड़ा

—पं. भंवरलाल पोल्याका

□

रावण सीता का हरण करके मन में पछताने लगा । (मैरा) एक भी कार्य
सिद्ध नहीं हुआ, अन्त में अपयश रह गया । ॥ 1 ॥

रावण सीता का हरण करके मन में अत्यन्त खिन्न हुआ । विधाता ने जो
अक्षर लिख दिये हैं उन्हें मिटाने में कौन समर्थ है ? ॥ 2 ॥

मंदोदरी कहती है—हे रावण ! तू बात सुन । तू लंका और परिजनों का
स्वामी था, तूने परस्त्री का हरण क्यों किया ? ॥ 3 ॥

मंदोदरी कहती है—हे रावण ! तू बात सुन । जिसके कारण तू आज लंघन
कर रहा है तूने उसकी नारी का हरण किया था । ॥ 4 ॥

मंदोदरी कहती है—हे रावण ! तू बात सुन । मैं कुल में कलंक लगने की
बात नहीं कहती, पृथ्वी पर अपयश फैल रहा है । ॥ 5 ॥

रावण कहता है—हे त्रिया ! सुन । जो होनहार होता है वही होता है ।
संसार में ऐसा कौन बलवान् है जो दैव का उल्लंघन करनेवाले को सहारा दे ?

॥ 6 ॥

- रावणु भणइं (तूँ)¹ सुणहि तिया, मेरउ कियउ ण होइ ।
 असुह करम जइ अणुसरइ, जगहं सयाणउ कोइ ॥ 7 ॥
- रावण परितय हरिय तुह, पेक्खु जु कियउ गवार ।
 डङ्गण लगउ विविहपरि, सइं कढवि अंगार ॥ 8 ॥
- रावण बहु फल चक्खिए, मंदोवरि पभणेइ ।
 धत्तूरहं फल चक्खि करि, सयलहं बुद्धि हरेइ ॥ 9 ॥
- रावण बहु रस भुल्लियओ, मंदोवरि, पभणेइ ।
 धत्तूरारस पिडि पडिओ, सव्वहं रासु करेइ ॥ 10 ॥
- रावण जइसउ तइं कियओ, अइसउ करइ ण कोइ ।
 सीता हरतह लंक गय, (धण)² परियण भयउ विणोउ ॥ 11 ॥
- रावणु बहु मदहं भरिओ, मणु गब्बियउ अयाणु ।
 जुत्ताजुत्त ण जाणियओ, दुख सहंता जाणि ॥ 12 ॥
- रावण जम्मु सु हारियओ, णरय पयाणउं दित्तु ।
 एकहं परतिय कारणहं, णा धण हुवउ ण मित्तु ॥ 13 ॥
- रावण परतिय हरिवि करि, अजहं णरय मभारि ।
 जं किज्जइ तं पावियए, पेक्खहु मणहं विचारि ॥ 14 ॥
- रावण एह अवत्थडी, पेक्खहु मणि अवलोइ ।
 परतिय जाणहुं एहु सुहु, अवरु म भुल्लउ कोइ ॥ 15 ॥
- रावण (असुहहं)³ असुहं गहिउ वुहा, णट्ठी बुद्धि दसास ।
 जागंतहं चोरहं मुसिओ, (धण)⁴ परियण लंक विणासु ॥ 16 ॥
- रावण सयाणउ किकरइ, दइयउ कुव्वुधि देइ ।
 अण्येय सणइं जइ मिलइं, जं लिहियउ तं होइ ॥ 17 ॥
- रावणु जिणवरु धम्मु दिहु, सम्मत्तु वि दिहु जासु ।
 असुह कम्मु जइ अणुसरइ, (तउ)⁵ णिव्वइ होइ विणासु ॥ 18 ॥
- रावणु मणहं विसूरियओ, पेक्खु जो कम्मु करेइ ।
 दुद्धहं कंजिउविदु जिम, विणसत कवणु धरेइ ॥ 19 ॥
- रावणु करि पद्धितावियओ, दइयउ बुद्धि हरेइ ।
 विणपराध परतिय हरिय, वंसहं (पा)⁶ पाण्डिउ देइ ॥ 20 ॥

रावण कहता है—हे त्रिया ! सुन । मेरा किया नहीं होता, संसार में क्या कोई बुद्धिमान् अशुभ कर्मों का अनुसरण करता है ? ॥ 7 ॥

(मंदोदरी कहती है)—हे मूर्ख रावण ! परस्त्री का हरण करके तूने जो किया वह देख, तूने तेज आग से अपने कई प्रकार के डाह लगा लिये । ॥ 8 ॥

मंदोदरी कहती है—हे रावण ! उसी का फल चख । घतूरे का फल खाने से सबकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है । ॥ 9 ॥

मंदोदरी कहती है—हे रावण ! तू उसी रस में भूल गया । घतूरे के रस के कारण युद्ध में पड़ कर सबका नाश करा दिया । ॥ 10 ॥

हे रावण ! जैसा तूने किया वैसा कोई नहीं करता । सीता हरण के कारण लंका गई और परिजनों में निन्दा हुई । ॥ 11 ॥

हे रावण ! तू बहुत मद में भर गया था, हे मूर्ख, तेरे मन में बहुत गर्व था । तूने उचित अनुचित नहीं जाना, (अब) दुःख सहते समय जान । ॥ 12 ॥

हे रावण ! तू यमराज द्वारा हरा दिया गया और तुझे नरक-प्रयाण दे दिया गया । एक परस्त्री के कारण न धन रहा न मित्र । ॥ 13 ॥

हे रावण ! परस्त्री का हरण करने के कारण तू आज भी नरक में है, मन में विचार कर देख—जो जैसा करता है वैसा भरता है ॥ 14 ॥

हे रावण ! मन में अच्छी तरह समझ ले कि तेरी यह अवस्था परस्त्री के कारण ही है और कोई भूल नहीं है । ॥ 15 ॥

हे रावण ! तूने अशुभ बुद्धि को ग्रहण कर लिया । हे दशमुख ! तेरी बुद्धि नष्ट हो गई । तूने जागते हुए भी चोरों को घुसा लिया जिससे परिजनों और लंका का विनाश हो गया ॥ 16 ॥

सयाना रावण भी क्या करता ? दैव ने ही कुबुद्धि दे दी । अनेक सयाने भी यदि मिल जाय तो भी जो लिखा है वही होता है । ॥ 17 ॥

रावण जिनधर्म में दृढ़ था, उसका सम्यक्त्व भी दृढ़ था । जो अशुभ कर्म का अनुसरण करता है उसका निश्चय ही विनाश होता है । ॥ 18 ॥

रावण अपने किए हुए कर्मों का विचार कर मन में खिन्न हुआ । जैसे दूध में कांजी की बूँद पड़ने पर उसे नष्ट होने से कौन रोक सकता है । ॥ 19 ॥

रावण ने पछतावा किया कि दैव ने ही बुद्धि हरली थी (जो) मैंने बिना अपराध के ही परस्त्री का हरण किया और वंश का नाश करा दिया ॥ 20 ॥

रावण सीता हरिवि करि राम विरोधिउ ताम ।
पुटिठहि लगउ पवणसुअ, लंक विधंसी ताम ॥ 21 ॥

रावण वुरुहउ कियउ पइं, रामहु सीय हरंतु ।
जं जं वित्तउ पेक्खु वुहा, तं तं दुक्ख सहंतु ॥ 22 ॥

रावण वंके दिवहइ, वंकिय बुद्धिसरीरे ।
पेक्खंतहं णिफफलु सयलु, एककहि परतिय लगि ॥ 23 ॥

रावण रायणहं पेक्खु तुहं, (धरा)⁷ परियण लंक विणासु ।
परतिय जाणहु एहु गुणु, रायणहं पडिउ दसासु ॥ 24 ॥

रावणु रायणहं दुह सहइ, पेक्खहु मूढा लोइ ।
एकहं परतियकारणहं, असु (ह) हं⁸ कम्म विगोइ ॥ 25 ॥

रावण भणइ रे सुणहु वुहा, कवणु रा कम्म विगोइ ।
दयउ ण कामु विधणु हरइ, कुबुधि सरीरहं वेइ ॥ 26 ॥

लंक जलंतिय पेक्खु (वुहा)⁹ बुह, एकहिं परतिय लगि ।
रावण रणहं वि गुत्तियओ, णा घर भयउ णा सगि ॥ 27 ॥

लंकागढु सायर अटलु, घरि मंदोयरि राणि ।
रावण परतियकारणहिं, वंसहं दिण्णउ पाणि ॥ 28 ॥

लंका जलि रक्खहं हुइय, परियणु गयउ खयंतु ।
रावण पेक्खत खय गयओ, अवरु वि कवण थिरंतु ॥ 29 ॥

लंका कंचनजडिय (वुहा)¹⁰ वुह, मणिमंडिय वहु पास ।
रयणायरु पासहं फिरिउ, सीताहरण विणास ॥ 30 ॥

लंघिवि सायर पवणसुय, रामहं कज्जु करंतु ।
सीयहरण लंका गइय, रावण खय हुविजन्तु ॥ 31 ॥

लंकागढ सायर अटलु, रावणिराव णिसंकु ।
णिसियर सयल विणिज्जि करि, परतिय कज्जु खयंतु ॥ 32 ॥

लंकागढ काहउ करइ, सायर काइ करेइ ।
असुहकम्मु जइ अणुसरइ, ॥ 33 ॥

..... ।
महिमंडल अपजस सरियओ, वंस कलंकु चडेइ ॥ 34 ॥

रावण ने सीता का हरण कर उस समय राम का विरोध किया और पवनसुत की पूंछ में आग लगा दी, उसने लंका का विध्वंस कर दिया । ॥ 21 ॥

हे रावण ! तूने राम की सीता का हरण कर बुरा किया । हे बुद्धिमान् ! जो जो बीता वह देख और वह वह दुःख सहन कर । ॥ 22 ॥

हे रावण ! तेरे दिन बाँके थे, तेरी बुद्धि और शरीर भी बाँके थे, एक परस्त्री के सम्बन्ध से देखते-देखते सब निष्फल हो गया । ॥ 23 ॥

हे रावण ! तूने परिजनों और लंका का विनाश अपनी आंखों से देखा है, हे दशमुख ! परस्त्री का यही गुण समझ कि तू नरक में पड़ा है । ॥ 24 ॥

मूर्ख लोगों ! देखो, एक परस्त्री के कारण रावण नरक में पड़ा है । अशुभ कर्मों ने सब नाश कर दिया । ॥ 25 ॥

रावण कहता है—हे बुद्धिमती ! सुन, कर्म कुछ नहीं बिगाड़ता है, देव न तो किसी की स्त्री का हरण करता है न शरीर में कुबुद्धि उत्पन्न करता है ॥ 26 ॥

हे बुद्धिमान् ! देख, एक परस्त्री के कारण लंका जल गई । रावण युद्ध में उलझ गया, (उसका) घर रहा न साथी । ॥ 27 ॥

लंकागढ़ और सागर अटल थे, घर में मन्दोदरी रानी थी । रावण ने परस्त्री के कारण वंश का नाश करा दिया । ॥ 28 ॥

लंका जलकर राख हो गई, परिजन क्षय हो गये, रावण का देखते देखते नाश हो गया, और भी कौन स्थिर रहा । ॥ 29 ॥

हे बुद्धिमती, लंका स्वर्णजटित थी, उसके पार्श्व मणिमण्डित थे, चारों ओर समुद्र था, सीता हरण के कारण उसका विनाश हो गया । ॥ 30 ॥

पवनसुत ने समुद्र लांघकर रामकार्य कर दिया । सीता हरण के कारण लंका चली गई, रावण का क्षय हो गया । ॥ 31 ॥

लंकागढ़ और सागर को अटल समझकर रावणराय निःशंक था । परस्त्री के कारण सब निशाचर जीते जाकर नष्ट हो गये । ॥ 32 ॥

यदि अशुभ कर्म का अनुसरण करे तो लंका गढ़ क्या करे ? सागर भी क्या करे ? ॥ 33 ॥

....., महिमण्डल में अपयश फैल गया और वंश के कलंक लग गया । ॥ 34 ॥

विणपराध सीय हरिय वुह, रावण कियउ अजुत्तु ।
महिमंडलिय जि चक्कयहं, धिगु धिगु कर्हाहि महंतु ॥ 35 ॥

वलिए संकइ वलु विवुहा, पा ण संक अहंकारु ।
इम जाणहु रे मूढ नर, इह मित्तिभाव विसारु ॥ 36 ॥

वर तें वहि वहि धणु कियओ, तरुणें वहिउ समग्गु ।
जिणवर मग्गहं वेच्चियउ, कारणि किसहु ण लग्गु ॥ 37 ॥

वसतहं उजडते वि घर, जिहं धरि जिणहं न मग्ग ।
तिहं धरि दुह दालिदु वहु, धणह वि लग्गिउ अग्गि ॥ 38 ॥

वूज्झहु दूज्झहु मूढ णर, सम्पइ थिरु ण रहाई ।
दिन दस पांच वसेरडउ, पुणि उठि परघरि जाई ॥ 40 ॥¹²

वुज्झहु रे तुहं मूढ णर, मग्ग गव्वयउ म कोइ ।
होंतें धम्मह वेच्चियइ, गए पछितावउ होइ ॥ 41 ॥

वूज्झहु रे तुहं मूढ णर, लखमी रंजहु काइं ।
गाग्गे पाग्गह ते गइय, हत्थी जिणहं घराइ ॥ 42 ॥

वूज्झहु रे तुहं मूढणर, संपइ संवहु काइ ।
जिणधम्महं वेच्ची थिरु रहइ, गातरु जाइय जाइ ॥ 43 ॥

संपइ सुधणु सुथिरु रहइ, जे जिणमग्गहं देइ ।
तसु जमंतरु थिरु रहइ, जसु कीरति जगहं भमेइ ॥ 44 ॥

संपइ सत्तहं वाहिरए, दयाविणु धम्मु ण होइ ।
दाणु जु पत्तहं वाहिरए, जम्मु सुहअलो जाइ ॥ 45 ॥

संपइ गइय सु सत विणु, सत्त विणा गउ जम्मु ।
जम्म विणा रे जीव सुणि, गहियउ असुहं कम्मु ॥ 46 ॥

सुक्खु वि घडियक कारणहं, दुक्ख ण किपि गणेइ ।
परघण परितय रमिवि करि, णरयहं दुक्ख सहेइ ॥ 47 ॥

हे बुद्धिमान् रावण ! तूने निरपराध सीता का हरण करके अनुचित कार्य किया, भूमण्डल के सब राजा बड़ी धिक्धिक् करते हैं । ॥ 35 ॥

हे बुद्धिमान् ! मुझे तेरे बल में भले ही शंका हो किन्तु अहंकार में शंका नहीं है । हे मूर्ख ! समझ ले कि यह मैत्री भाव का नाश करनेवाला है । ॥ 36 ॥

प्रतिज्ञा से चलायमान होकर पत्नी को निकाल दिया, सारी जवानी नष्ट कर दी, बिना किसी कारण के जिनमार्ग से वंचित हो गया । ॥ 37 ॥

जिस घर में जिनमार्ग नहीं होता वह बसा हुआ घर भी उजड़ जाता है, उस घर में बहुत दुःख और दारिद्र्य आ जाता है, धन में भी आग लग जाती है । ॥ 38 ॥

हे मूर्ख पुरुष ! समझ और बूझ, सम्पत्ति स्थिर नहीं रहती । वह दस-पांच दिन रहती है, फिर उठकर दूसरे के घर चली जाती है । ॥ 40 ॥

हे मूर्ख मनुष्य ! तू जान ले कि मन में किसी को भी गर्व नहीं करना चाहिए । होते हुए भी जो धर्म को छोड़ देता है उसके चले जाने पर पछताता है । ॥ 41 ॥

हे मूर्ख ! समझ, लक्ष्मी से क्या राग करना ? जिनके घर हाथी थे वे नंगे पाँव घूमते हैं । ॥ 42 ॥

हे मूर्ख समझ, सम्पत्ति को क्यों ढोता है ? जिनधर्म के मध्य ही यह स्थिर रहती है नहीं तो जाती ही जाती है । ॥ 43 ॥

जो अपनी धन-सम्पत्ति जिनमार्ग में दान करता है उसी की धन-सम्पत्ति स्थिर रहती है, जन्मान्तर में भी स्थिर रहती है, उसी की संसार में यश और कीर्ति फैलती है । ॥ 44 ॥

सम्पत्ति जीवों में बांटना (दान देना) चाहिए, दया बिना धर्म नहीं होता । पात्र को दिया दान ही जन्म को सुखदाई होता है । ॥ 45 ॥

शील के अभाव में सम्पत्ति चली जाती है, शील के बिना संयम नष्ट हो जाता है, हे जीव ! सुन, तूने संयम के बिना अशुभ कर्मों को ग्रहण कर लिया । ॥ 46 ॥

एक घड़ी के सुख के लिए तूने दुःखों को गिना ही नहीं । परधन परस्त्री में आसक्ति के कारण तू नरक में दुःख सह रहा है । ॥ 47 ॥

खसहु म धम्महं भवियजण, जिणवरधम्मु जु सारु ।
सावयजम्मु सु दुल्लहम्मो, लहइ ण वारंवार ॥ 48 ॥

खसिय सुसंपइ तासु घरे, जिहि घरि सतु ण वहंतु ।
ते घर जिणवर भासियए, दुह दालिद्धु भरंतु ॥ 49 ॥

खूटी संपइ होइ (बुहा)¹³ बुह, परियणु खूटउ होइ ।
जिणवर खूटउ णउ लहइ, जइ रि सिरोमणि होइ ॥ 50 ॥

खूटी आउ वि जाणि जिय, जम्मह गहियउ आइ ।
तेत्तिसकोडिंहि को वलिउ, जसु सरणागति जाइ ॥ 51 ॥

संसारहं बुह को वलिउ, जो जम्मु करह गहेइ ।
जीव चलंतहं को घरइ, को सरणहं रक्खेइ ॥ 52 ॥

संसारहं भय जिउ पडिआो, कट्टण कवणु समत्थु ।
जिणवर मेल्लि वि को मुणइं, करु गहि लावइ पंथु ॥ 53 ॥

संसारहो बलवंत यहो, अप्पउ जो रक्खेइ ।
कम्मगलत्थे सयल गय, पर जिउ कवणु घरेइ ॥ 54 ॥

संसार अणंत समत्थ हुअ, भुवि गिरि गिलण ण कोइ ।
ए ही सयलु गलछियहो, एम भणंतउ जोइ ॥ 55 ॥

हसि हसि विलसउ सयल जगु, णवि छूटिउ छुट्टेइ ।
इम जाणहु रे मूढ नर, मण गव्वियउ म कोइ ॥ 56 ॥

हउ णवि भुंजिव मूढ नर, मइ भुंजिउ जगु जाणि ।
हुआ जि होसइ के वि णर, सुह भुंजिहइ णियाणि ॥ 57 ॥

हउ वेससमाणिय जाणि बुह, मो सम वेस ण होइ ।
मइ सुरणर हरि हर सयल, महि भुंजिवि मुक्केइ ॥ 58 ॥

हउ णर णारि सलक्खणिय, मो समु णारि ण कोइ ।
मइ सुर असुर वि भुंजियए, को पुहमिंहि अवर गणेइ ॥ 59 ॥

खमा सरीरहं जसु वसइ, (तसु)¹⁴ दुज्जण काइं करेइ ।
सो सुहु भुंजइ विविह परि, जिणवर एम भरोइ ॥ 60 ॥

हे भव्यजनो ! धर्म को मत छोड़ो, जैनधर्म ही एकमात्र सार है, श्रावक-जन्म बड़ा दुर्लभ है, यह बार-बार नहीं मिलता ।
॥ 48 ॥

जिस घर में शील का पालन नहीं होता उस घर की सुख-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है । जिनेन्द्र कहते हैं कि वह घर दुःख-दारिद्र्य से भर जाता है । ॥ 49 ॥

हे बुद्धिमान् ! नष्ट हुई सम्पत्ति मिल जाती है, बिछुड़े हुए परिजन भी पुनः मिल जाते हैं किन्तु चाहे कोई चक्री ही क्यों नहीं हो उसे छूटा हुआ जैनधर्म नहीं मिलता ।
॥ 50 ॥

हे जीव ! यह अच्छी तरह समझ ले कि आयु समाप्त होने पर जिनके शरीर में तेतीस करोड़ मनुष्यों का बल है ऐसों की शरण में भी यदि तू चला जायगा तो भी तुझे यम आकर पकड़ लेगा ।
॥ 51 ॥

हे बुद्धिमान् ! संसार में ऐसा कौन शक्तिशाली है जो यम का हाथ पकड़ ले, मरते हुए जीव को कौन रोक सकता है ? कौन उसे अपनी शरण में रख सकता है ?
॥ 52 ॥

संसार भय में पड़े जीव को कौन निकाल सकता है ? जिनवर के समागम बिना कौन छुड़ा सकता है ? कौन हाथ पकड़ कर रास्ते पर लगा सकता है ॥ 53 ॥

इस बलवान् संसार में जो अपनी रक्षा करता है उसके सब कर्मजन्य दुःख नष्ट हो जाते हैं । अन्य कौन जीव रक्षा करता है ?
॥ 54 ॥

‘पृथ्वी अथवा पहाड़ पर इस अनन्त संसार को नष्ट करने में कोई भी समर्थ नहीं हुआ, इसने ही सबको नष्ट कर दिया’ ऐसा कहते हुए जो सम्पूर्ण संसार को बिलसता है उसका संसार छुड़ाने पर भी नहीं छूटता, हे मूर्ख, तू ऐसा समझ ले और मन में किसी प्रकार का गर्व मत कर ।
॥ 55-56 ॥

हे मूर्ख ! ऐसा समझ कि मैंने इस संसार को नहीं भोगा, मुझे ही संसार ने भोग लिया । कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं हुआ है और न होगा जो (इसे भोगकर) अन्त में सुखी होता हो ।
॥ 57 ॥

मैं ही सबसे बड़ा सुसम्मानित व्यक्ति हूँ, मुझसे बड़ा कोई नहीं है; मैंने सुर, नर, हरि, हर और सारी पृथ्वी को भोग कर छोड़ दिया, ‘मेरे समान अन्य कोई नारी नहीं है’ ऐसा कहनेवाली सुलक्षणा नारी का मैं भर्तार हूँ, मैंने दूसरों की तो गणना ही क्या ? सुर-असुरों पर भी शासन किया है ऐसा समझनेवाले हे बुद्धिमान् ! तू यह जान ले कि जिसके शरीर में क्षमा का वास है उसका दुर्जन भी क्या कर सकता है ? जिनेन्द्र देव ऐसा कहते हैं कि वह अनेक प्रकार के सुख भोगता है ।
॥ 58-60 ॥

खमा विणा रे जीव सुणि, दुज्जण मिलहि अणंत ।
अपजसु पूरइ सयल महि, दुख सहंत महंत ॥ 61 ॥

खमा सरीरहं आभरण, संजसु जासु सिंगार ।
(सो)¹⁵ भवसायरु दुत्तर तरइ, को वारं तहं पार ॥ 62 ॥

खमा समो एवि कोवि (बुहा)¹⁶ बुह, णवि घणु परियणु मित्त ।
दुज्जणु को वि ए अणुसरइ, सज्जण मिलहि अणंत ॥ 63 ॥

खमा करिज्जहु भवियजण, बुहजण दोसु म देहु ।
मइं बुद्धिहीण पयासियओ, पंडिय सुद्ध करेहु ॥ 64 ॥

णेमिपसाएं भासियओ, सरसइ दियउ सहाइ ।
जिणसासणहं पयासिए मत को अणक्खु कराइ ॥ 65 ॥

णेमीसुर हउ पयसरणु, सरसइ केरउ दासु ।
ओणमचरितु पयासियहो, बुधजण करहुं म हासि ॥ 66 ॥

पढतहं सुणतहं जे वि णर, लिहिवि लिहावइ देहि ।
ते सुह (भंजहिं)¹⁷ भुंजहि विविहपरि, जिणवरु एम भणेइ ॥ 67 ॥

इति बुद्धिरसायण-ओणमचरित्त दोहडा
समाप्ता : ॥

अरे जीव ! सुन, क्षमा बिना अनन्त दुर्जन मिल जाते हैं । सब पृथ्वी पर अपयश फैल जाता है, बड़े दुःख सहने पड़ते हैं । ॥ 61 ॥

क्षमा शरीर का आभूषण है, संयम जिसका शृंगार है, वह दुस्तर भवसागर को तैर जाता है, उसके लिए पार होने में रुकावट क्या है ? ॥ 62 ॥

हे बुद्धिमान् ! क्षमा के समान कोई भी नहीं है, धन, परिजन और मित्र भी नहीं हैं, दुर्जन कोई भी अनुसरण नहीं करता, सज्जन अनन्त मिल जाते हैं । ॥ 63 ॥

भव्यजन मुझे क्षमा करना, बुधजन दोष मत देना, मुझ बुद्धिहीन ने इसे प्रकाशित किया है, पण्डित शुद्ध कर लें । ॥ 64 ॥

जिन शासन के प्रकाश में नेमिप्रसाद द्वारा यह कहा गया है, सरस्वती ने सहायता दी है । कोई इसकी अनदेखी (उपेक्षा) मत करना । ॥ 65 ॥

मैं नेमीश्वर का चरण-शरण हूँ और सरस्वती का दास हूँ, मैंने ओणमचरित को प्रकाशित किया है, बुधजन हंसी मत करना । ॥ 66 ॥

जो भी मनुष्य इसको पढ़ते हैं, सुनते हैं, लिखते हैं, लिखवाकर देते हैं वे अनेक प्रकार के सुख भोगते हैं ऐसा जिनवर ने कहा है । ॥ 67 ॥

इस प्रकार बुद्धिरसायण ओणमचरित्र दोहे समाप्त हुए ।

1. लिपिकार ने (तूं) शब्द बढ़ा दिया ज्ञात होता है क्योंकि इससे छन्द में मात्राएँ बढ़ जाती हैं । इसके न रहने से अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता ।
2. इस छन्द में भी 'घण' शब्द लिपिकार द्वारा ही बढ़ाया ज्ञात होता है क्योंकि इससे भी छन्द में मात्रा-वृद्धि होती है ।
3. इसमें लिपिदोष से 'ह' अधिक लिखा गया है ।
4. यहां भी लिपिकार ने 'घण' शब्द बढ़ा दिया है जिससे छन्द में मात्रा-वृद्धि हो गई है ।

5. यहां भी कोष्ठक में लिखा 'तउ' शब्द अधिक है ।
6. इस छन्द में स्पष्ट ही 'पा' अधिक लिपिकृत है ।
7. इस छन्द में 'घण' शब्द रहने पर मात्रा-वृद्धि हो जाती है ।
8. शुद्ध शब्द 'असुहं' ही है । लिपिकार ने गलती से एक 'ह' अधिक लिख दिया है ।
- 9-10. शुद्ध शब्द 'वुहा' न होकर 'वुह' ही ठीक ज्ञात होता है क्योंकि ये मन्दोदरी के वचन होने से रावण के प्रति पुल्लिङ्ग का ही प्रयोग संगत है ।
11. दोहा 33 का चतुर्थ पद तथा 34वें दोहे का प्रथम एवं द्वितीय पद लिपिकार से लपि करते समय छूट गये हैं, ऐसा ज्ञात होता है ।
12. लिपिकार ने 38 के पश्चात् दोहे की संख्या 40 ही लगाई है ।
13. यहां 'वुह' शब्द ही अधिक उपयुक्त ज्ञात होता है ।
14. छन्द में 'तसु' शब्द रहने से मात्रा-वृद्धि होती है ।
15. 'सो' शब्द रहने से छन्द में मात्रा बढ़ती है । न रहने पर अर्थ में कोई हानि नहीं होती ।
16. यहां भी 'वुहा' के स्थान में 'वुह' अधिक संगत ज्ञात होता है ।
17. 'मंजहि' के स्थान में 'मुंजहि' सार्थक ज्ञात होता है !

इस अंक के सहयोगी रचनाकार

1. श्रीमती अलका प्रचण्डिया 'वीति'—एम. ए. (संस्कृत एवं हिन्दी), अणभ्रंश भाषा संबंधी विषय पर पीएच.डी. हेतु शोधरत। कवयित्री एवं लेखिका। इस अंक में प्रकाशित निबन्ध—जंबूसामिचरिउ में छन्दयोजना। सम्पर्क सूत्र—मंगलकलश, 394, सर्वोदय-नगर, आगरा रोड, अलीगढ़-202001, उ.प्र.।
2. डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'वीति'—एम.ए., पीएच.डी., डी.लिट्. उपाधि हेतु शोधरत। कवि, लेखक एवं समीक्षक। रिसर्च एसोसिएट, हिन्दी विभाग, कन्हैयालाल मुंशी भाषा-विज्ञान एवं हिन्दी विद्यापीठ, आगरा। इस अंक में प्रकाशित निबन्ध—जम्बूसामिचरिउ का साहित्यिक मूल्यांकन। सम्पर्क सूत्र—मंगलकलश, 394, सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़-202001, उ. प्र.।
3. डॉ. कपूरचन्द जैन—एम. ए., पीएच. डी., साहित्य-सिद्धान्तशास्त्री। कवि, लेखक एवं समीक्षक। धार्मिक, सामाजिक व साहित्यिक संस्थाओं से सम्बद्ध। अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, कुन्दकुन्द महाविद्यालय, खतौली। इस अंक में प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामीचरित विषयक जैन साहित्य। सम्पर्क सूत्र—130, बड़ा बाजार, खतौली-251201, उ. प्र.।
4. डॉ. कमलचन्द सोगानी—बी. एससी., एम.ए., पीएच. डी.। नीतिशास्त्रीय एवं दार्शनिक शोध-पत्रों व पुस्तकों के लेखक-सम्पादक। देश-विदेश में सम्मानित। अनेक शैक्षणिक, धार्मिक व सामाजिक संस्थाओं से सम्बद्ध। प्रोफेसर, दर्शन विभाग, सुल्ताइया विश्वविद्यालय, उदयपुर। इस अंक में प्रकाशित निबन्ध—जंबूसामिचरिउ के मंगल प्रसंग-व्याकरणिक विश्लेषण। सम्पर्क सूत्र—टी. एच. 4, स्टॉफ कॉलोनी, यूनिवर्सिटी न्यू कैम्पस, उदयपुर-313001, राज.।

5. डॉ. गंगाराम गर्ग—एम.ए., पीएच. डी., डी.लिट्. की उपाधि हेतु शोधरत । अनेक शोधपत्रों के लेखक । प्रवक्ता, हिन्दी विभाग, महारानी श्री जया कॉलेज, भरतपुर । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामिचरित में रस-योजना । सम्पर्क सूत्र-110 ए, रणजीत नगर, भरतपुर, राज. ।
6. डॉ. छोटेलाल शर्मा—एम.ए., पीएच. डी., डी. लिट्. । लेखक व सम्पादक । सौन्दर्य-शास्त्र, भाषाशास्त्र एवं अपभ्रंश के विशेषज्ञ । प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, वनस्थली विश्वविद्यालय । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—महाकवि वीर का समीक्षा सिद्धान्त । सम्पर्क सूत्र-12, अरविन्द निवास, वनस्थली विश्वविद्यालय, वनस्थली, जिला-टोंक, राजस्थान ।
7. डॉ. (श्रीमती) ज्योति जैन—एम.ए., पीएच. डी. । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामीचरित विषयक जैन साहित्य की सहयोगी लेखिका । सम्पर्क सूत्र-130, बड़ा बाजार, खतौली-251201, उ. प्र. ।
8. डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल—एम.ए. (संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, भारतीय इतिहास—संस्कृति एवं पुरातत्व तथा अर्थशास्त्र), एल.एल.बी., साहित्यरत्न, साहित्यालंकार, पीएच. डी. (हिन्दी) । लेखक एवं सम्पादक । अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, राजा बलवन्तसिंह कॉलेज, आगरा । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—महाकवि वीर और उनका जंबूस्वामिचरित—एक समीक्षात्मक अध्ययन । सम्पर्क सूत्र-6/240, बेलनगंज, आगरा-4, उ. प्र. ।
9. श्री नेमिचन्द्र पटोरिया—एम.ए., एल.एल.बी., साहित्यरत्न । लेखक, अनुवादक एवं समालोचक । मानद शोध सहायक, जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामिचरित प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामिचरित छवि-भली सवारी वीर कवि । सम्पर्क सूत्र—जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी-322220, राज. ।
10. डॉ. (श्रीमती) पुष्पलता जैन—एम. ए. (हिन्दी एवं भाषाविज्ञान) । पीएच. डी. (हिन्दी व भाषाविज्ञान) लेखिका । प्रवक्ता—एस. एफ. एस. कॉलेज, नागपुर । इस ग्रंथ की कथानक सृष्टि और हिन्दी काव्य परम्परा । सम्पर्क सूत्र—न्यू एक्सटेंशन, सदर, नागपुर, महाराष्ट्र ।
11. सुश्री प्रीति जैन—एम. ए., आचार्य (जैनदर्शन) । प्रकाशन सहायक, जैनविद्या संस्थान श्रीमहावीरजी, जयपुर । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूस्वामिचरित के बेराग्य प्रसंग । सम्पर्क सूत्र-1130, महावीर पार्क रोड, जयपुर-302003 ।
12. पं. भंवरलाल पोल्याका—साहित्यशास्त्री, आचार्य (जैनदर्शन) । सम्पादक, लेखक व समालोचक । पाण्डुलिपि सर्वेक्षक, जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी । इस ग्रंथ में अप्रकाशित अपभ्रंश रचना—बुद्धिरसायण ओणमचरितु के अनुवादक । सम्पर्क सूत्र-566, जोशी भवन के सामने, मनहारों का रास्ता, जयपुर-302003 ।

13. डॉ. भागचन्द्र भास्कर— एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्., साहित्याचार्य । पालि, प्राकृत, संस्कृत भाषाओं के विद्वान् । भारतीय इतिहास एवं संस्कृति तथा बौद्ध दर्शन के विशेषज्ञ । सम्पादक एवं लेखक । अध्यक्ष, पालि प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—महाकवि वीर की दार्शनिक दृष्टि । सम्पर्क सूत्र—न्यू एक्सटेंशन, सदर, नागपुर, महाराष्ट्र ।
14. डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया—एम. ए., पीएच. डी., डी. लिट्., साहित्यालंकार, विद्यावारिधि/सम्पादक एवं लेखक । कुशल वक्ता एवं चिन्तक । अनेक शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक संस्थाओं से सम्बद्ध/मानदसंचालक, जैन शोध अकादमी, अलीगढ़ । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूसामिचरिउ के यशस्वी प्रणेता महाकवि वीर का व्यक्तित्व । सम्पर्क सूत्र—मंगलकलश, 394 सर्वोदयनगर, आगरा रोड, अलीगढ़-202001, उ. प्र. ।
15. श्री श्रीयांशुकुमार सिंघई—शास्त्री, आचार्य (जैनदर्शन), शोध स्नातक । कवि एवं लेखक । प्रवक्ता, भाषाविज्ञान, श्री दिगम्बर जैन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जयपुर । इस ग्रंथ में प्रकाशित निबन्ध—जंबूसामिचरिउ के नारी-पात्र । सम्पर्क सूत्र—श्री दिगम्बर जैन स्नातकोत्तर संस्कृत महाविद्यालय, मनियारों का रास्ता, जयपुर-302003 ।



जैनविद्या
(शोध-पत्रिका)
सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी ।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा ।
3. रचनाएँ जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा । स्वभावतः तथ्यों की प्रमाणांकता आदि का उत्तर-दायित्व रचनाकार का रहेगा ।
4. रचनाएँ कागज के एक ओर कम से कम 3 से. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिये ।
5. रचनाएँ भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता—

सम्पादक

जैनविद्या

महावीर भवन

सवाई मानसिंह हाइवे

जयपुर-302003

जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी

महावीर पुरस्कार

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान) की प्र० कारिणी समिति के निर्णयानुसार जैन साहित्य सृजन एवं लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए रु. 5,001/- (पाँच हजार एक) का पुरस्कार प्रतिवर्ष देने की योजना :—

योजना के नियम :—

1. जैन धर्म, दर्शन, इतिहास, संस्कृति सम्बन्धी किसी विषय पर किसी निश्चित अवधि में लिखी गयी सृजनात्मक कृति पर 'महावीर पुरस्कार' दिया जावेगा। अन्य संस्थाओं द्वारा पहले से पुरस्कृत कृति पर यह पुरस्कार नहीं दिया जावेगा।
2. पुरस्कार के लिए विषय, भाषा, आकार एवं अवधि का निर्णय जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा किया जावेगा।
3. पुरस्कार हेतु प्रकाशित/अप्रकाशित दोनों प्रकार की कृतियां प्रस्तुत की जा सकती हैं। यदि कृति प्रकाशित हो तो यह पुरस्कार की घोषणा की तिथि के 3 वर्ष पूर्व तक ही प्रकाशित होनी चाहिए।
4. पुरस्कार हेतु मूल्यांकन के लिए कृति की चार प्रतियां लेखक/प्रकाशक को संयोजक, जैनविद्या संस्थान समिति को प्रेषित करनी होगी। पुरस्कारार्थ प्राप्त प्रतियों पर स्वामित्व संस्थान का होगा।
5. अप्रकाशित कृति की प्रतियां स्पष्ट टंकण की हुई अथवा यदि हस्तलिखित हों तो वे स्पष्ट और सुवाच्य होनी चाहिये।
6. पुरस्कार के लिए प्रेषित कृतियों का मूल्यांकन दो या तीन विशिष्ट विद्वानों/निर्णायकों के द्वारा कराया जावेगा, जिनका मनोनयन जैनविद्या संस्थान समिति द्वारा होगा। आवश्यक होने पर समिति अन्य विद्वानों की सम्मति भी ले सकती है। इन निर्णायकों/विद्वानों की सम्मति के आधार पर सर्वश्रेष्ठ कृति का चयन समिति द्वारा किया जावेगा। उस कृति को पुरस्कार के योग्य घोषित किया जावेगा।
7. सर्वश्रेष्ठ कृति पर लेखक को पाँच हजार एक रुपये का 'महावीर पुरस्कार' प्रशस्तिपत्र के साथ प्रदान किया जावेगा। एक से अधिक लेखक होने पर पुरस्कार की राशि उनमें समानरूप से वितरित कर दी जावेगी।
8. महावीर पुरस्कार के लिए चयनित अप्रकाशित कृति का प्रकाशन संस्थान के द्वारा कराया जा सकता है जिसके लिए आवश्यक शर्तें लेखक से तय की जावेंगी।
9. महावीर पुरस्कार के लिए घोषित अप्रकाशित कृति को लेखक द्वारा प्रकाशित करने/करवाने पर पुस्तक में पुरस्कार का आवश्यक उल्लेख साभार होना चाहिये।
10. यदि किसी वर्ष कोई भी कृति समिति द्वारा पुरस्कार योग्य नहीं पाई गई तो उस वर्ष का पुरस्कार निरस्त (रद्द) कर दिया जावेगा।
11. उपर्युक्त नियमों में आवश्यक परिवर्तन/परिवर्द्धन/संशोधन करने का पूर्ण अधिकार संस्थान/प्रबन्धकारिणी समिति को होगा।

संयोजक कार्यालय

महावीर भवन,
एस. एम. एस. हाइवे,
जयपुर-302003.

ज्ञानचन्द्र खिन्दूका

संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति, श्रीमहावीरजी

हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

- | | |
|---|--------|
| 1-5. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रंथ सूची—तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भाग
सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ | 170.00 |
| 6. जैन ग्रंथ भंडारसं इन राजस्थान—शोधप्रबन्ध—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 50.00 |
| 7. प्रशस्ति संग्रह—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 14.00 |
| 8. राजस्थान के जैन संत : व्यक्तित्व एवं कृतित्व—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 20.00 |
| 9. महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 20 00 |
| 10. जैन शोध और समीक्षा—लेखक—डॉ० प्रेमसागर जैन | 20.00 |
| 11. जिणदत्त चरित—सम्पादक—डॉ० माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ० कासलीवाल | 12.00 |
| 12. प्रद्युम्नचरित—पं० चैनसुख दास न्यायतीर्थ एवं डॉ० कासलीवाल | 12.00 |
| 13. हिन्दी पद संग्रह—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 10.00 |
| 14. सर्वार्थसिद्धिसार—सम्पादक—पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ | 10.00 |
| 15. चम्पा शतक—सम्पादक—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल | 6 00 |
| 16. तामिल भाषा का जैन साहित्य—सम्पादक—श्री भंवरलाल पोल्याका | 1.00 |
| 17. वचनदूतम्—(पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)—लेखक—पं० मूलचन्द शास्त्री, प्रत्येक | 10.00 |
| 18. तीर्थकर वर्धमान महावीर—लेखक—पं० पदमचन्द शास्त्री | 10.00 |
| 19. पं० चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ | 50.00 |
| 20. बाहुवलि (खण्डकाव्य)—पं० अनूपचन्द न्यायतीर्थ | 10.00 |
| 21. योगानुशीलन—लेखक—श्री कैलाशचन्द्र बाहुदार, एम.ए., एलएल. बी. | 75.00 |
| 22. चूनड़िया—मुनिश्री विनयचन्द्र, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका | 1.00 |
| 23. आरांदा—श्री महानंददेव, अनु० डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री | 5.00 |
| 24. रोमिसुर की जयमाल और पाण्डे की जयमाल—मुनि कनककीर्ति
एवं कवि नण्डू, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका | 2.00 |
| 25. समाधि—मुनि चरित्रसेन, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका | 4.00 |
| 26. बुद्धिसायण ओणमचरित्तु—कवि नेमिप्रसाद, अनु० श्री भंवरलाल पोल्याका | 5.00 |
| 27. कातंत्ररूपमाला—भावसेन त्रैविद्यदेव | 12.00 |
| 28. बोधकथा मंजरी—श्री नेमीचंद पटोरिया | 12.00 |
| 29. मृत्यु जीवन का अन्त नहीं—डॉ० श्यामराव व्यास | 5.00 |

पुस्तक प्राप्ति स्थान

मन्त्री कार्यालय
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
सवाई मानसिंह हाइवे, जयपुर-3 (राज०)

जैनविद्या संस्थान
दि० जैन अ० क्षेत्र श्रीमहावीरजी
श्रीमहावीरजी (जि० स० माधोपुर) राज०